CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३०८४

धर्म की क्रिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन (शोध) संस्थान
गार
राणसी-५
क्रिया
क चंद जी दोशी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयपुर दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल ग्रन्थमाला पुष्प नं० १

* श्री वीतरागाय नमः *

ॐ

अनादिसे संसारी जीवने नहीं की ऐसी

धर्मकी क्रिया

(मोक्षकी क्रिया)

प्रथमावृत्ति

★

लेखक
श्री रामजी माणिकचन्द दोशी, एडवोकेट
राजकोट (सौराष्ट्र)

★

संपादकः—
श्री ब्र० गुलाबचन्द जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

30८८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकः—
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
उदयपुर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति	बसन्त पंचमी	मूल्य
२०००	वी० नि० सं० २४६७	१)६०

मुद्रकः—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—निवेदन—

सर्वज्ञ वीतराग कथित 'धर्मकी क्रिया' नामक यह संग्रह ग्रन्थ है जो २५ साल पूर्व गुजराती भाषामें श्री रामजी भाई ने तैयार किया था। हिन्दी समाज द्वारा बहुत मांग होनेसे इसका प्रकाशन विशेष प्रसन्नताका विषय है। धर्मके नाम पर अन्यथा उपदेशदाता द्वारा तथा शास्त्रका अर्थ नहीं समझनेवालों द्वारा काम-भोग बन्धनकी कथा सदा सुलभ है किन्तु परसे पृथक् (–मिथ्यात्त्व-रागादिसे भिन्न) और स्व से एकत्वकी भावभासनरूप सत्कथा दुर्लभ ही है। सत्पुरुष कानजी स्वामी द्वारा आगमानुसार नय-विभागसे सुसंगत तत्त्वज्ञानका प्रकाश होरहा है। उसमें हेय–उपादेय तत्त्वकी निःसन्देह दृढ़ता, सर्वज्ञ कथित उपादेय तत्त्वकी निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रके स्वरूपका पक्का ज्ञान होना अति आवश्यक है, ऐसी तत्त्व मीमांसा सहित धर्मकी क्रिया दो नयों द्वारा कैसी है, उन कथनोंका संग्रह श्री रामजी भाई एडवोकेट (भूतपूर्व अध्यक्ष दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़) ने किया था।

आप करीब ३४ सालसे पूज्य स्वामीजीकी संगतिमें हैं, उम्र ८८ सालकी होने पर भी आत्महितमें सतत सावधान हैं, नित्य सर्व धार्मिक कार्यक्रममें आपकी उपस्थिति रहती ही है। प्रकाशन विभाग दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्टने उदयपुर मुमुक्षु मण्डलको इस ग्रन्थ के प्रकाशनकी अनुमति दी है, अतः आभार मानता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्र० चन्दुलालजीने यह अनुवाद पढ़नेके लिये अपना अमूल्य समय दिया है अतः खास आभार मानता हूँ। श्री मगनलालजी जैनने शुद्ध अनुवाद कर दिया है तथा कमल प्रिन्टर्स मदनगंज (–किशनगढ़ राजस्थान) ने यह ग्रन्थ शीघ्र और सुन्दर ढङ्गसे छाप दिया है अतः उनका भी मैं आभारी हूँ।

जैन समाजमें इसके प्रचार एवं प्रसारकी अति आवश्यकता समझ कर उदयपुर निवासी श्री चन्द्रसेनजी, श्री उग्रसेनजी, श्री लक्ष्मीलाल तथा श्री सज्जनलालजी, राजेन्द्रकुमार, पवनकुमार, श्री देवीलालजी, श्री अम्बालालजी आदिने यह ग्रन्थ हिन्दीमें प्रगट करनेकी प्रेरणा की और प्रकाशन कराया, धन्यवाद !

स्वाध्याय प्रेमियोंसे प्रार्थना है कि मध्यस्थ होकर सर्वज्ञ कथित निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय सत्क्रिया जो है उसे समझ कर स्वसन्मुखता द्वारा अपने समय शक्ति और उत्साहको सार्थक बनावें।

माघ सुदी ५
वीर नि० सं० २४९७

निवेदकः—
गुलाबचन्द जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
१	ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः भाग-१	१
	१-२ क्रिया शब्द के अर्थ।	
	३ छह द्रव्यों की क्रिया।	
	४-५ क्रिया का यहाँ पर सुसंगत अर्थ।	
२	ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः भाग-२	४
	१-२ ज्ञान क्रिया, क्रोधादि क्रिया।	
	३-४ ज्ञप्ति और करोति क्रिया।	
	५ शरीर की क्रिया भिन्न होनेसे विवेकवान उसे आत्माकी क्रिया नहीं मानता। दो क्रियावादित्व माननेवाला मिथ्यादृष्टि ही है।	
३	ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः भाग-३	८
	१-२ इस सूत्र का मूल	
	३ इसका व्याकरण की दृष्टि से सच्चा अर्थ।	
	४ सैद्धान्तिक दृष्टि से क्या है?	१० से १२
	५ इस सूत्र का सच्चा अर्थ	१२
४	ज्ञप्ति क्रिया भाग-१	१३
	१ आत्मा ज्ञानके सिवा अन्य कुछ भी कर नहीं सकता है।	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	२-३-४ ज्ञप्ति क्रिया, ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया का अर्थ।	
	५ क्रिया का अर्थ सम्यक्‌दर्शन सहित चारित्र उसका अर्थ।	
५	ज्ञप्ति क्रिया भाग-२	१६
	१ चारित्र कहीं जड़ शरीरकी अवस्था नहीं है।	१६
	२ ज्ञान और चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है।	१७
	३ शुद्ध सत्यार्थ चारित्र सम्यग्ज्ञानीको ही होता है।	१७-१८
	४ सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्गका साधक है।	१८
	५ जीव अपनेको स्व से ही जानता है।	१८-१९
६	ज्ञप्ति क्रिया भाग-३	१९
	२ धर्म क्रिया वीतराग चारित्रको कहते हैं।	
	३ शरीरकी क्रिया उस चारित्रको सहायक नहीं है।	२०
	४ शरीरकी क्रिया, तथा करोति क्रियासे मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं है।	२०-२१
	५ क्रिया के अनेक अर्थ।	
७	करोति क्रिया भाग-१	२१
	१-२ करोति क्रियाका अर्थ	
	१ से ५ सम्यग्दर्शन स्वयं को हुआ है यह स्वयं जान सकते हैं। उनके आधार।	२३-२४
८	करोति क्रिया भाग-२	२५
	१-२ नयकी व्याख्या, जीव स्वानुभवसे प्रत्यक्ष है और	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	श्रुतज्ञान द्वारा परोक्ष।	२५
	४-५ उनके आधार	२५ से २८
९	करोति क्रिया भाग-३	२८
	१-२-३ स्वयंको सम्यग्दर्शन हुआ है वह जाना जाता है।	२८ से ३०
	४ परमार्थ, संस्तव-स्तुति आदिके अर्थ	३० से ३४
	५ इस कालमें आत्माकी समझ दुर्लभ है अतः जिस प्रकार कर रहे हैं उस प्रकार करना-यह मिथ्या अभिप्राय है।	३५
१०	करोति क्रिया भाग-४	३६
	१ अध्यात्मोपदेश इस कालमें देना ही चाहिये अन्यथा करोति क्रिया मिटनेवाली नहीं।	३६ से ३८
	२ द्रव्यानुयोगका उपदेश इस कालमें सभामें देना ही चाहिये।	३८ से ४०
	३ इससे सिद्ध होनेवाले नियम।	४०
	४ सम्यग्दर्शन रहित जो शुभाशुभ क्रिया करोति क्रिया है।	४१
११	मोक्षको कतरनेवाली क्रिया कौनसी है?	४२
	१-२-३ शुभाशुभ क्रिया मूढ़-क्रिया, विचक्षणकी क्रिया।	४२ से ४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	४ शरीरकी क्रियासे बंध-मोक्ष नहीं है कारण कि वह परद्रव्य है।	४६
	५ कर्मभावका फल संसार है।	४६-४७
१२	सामायिकका स्वरूप बिना समझे जो करता है उस सामायिकका फल	४७
	१ मात्र पाठ बोलकर की हुई सामायिकका फल।	४७ ४८
	२ प्रतिज्ञा रहित ऐसे उपयोगका फल	४८
	३ तब हम क्या करें ?	४८
	४ सामायिक व्रत सम्यग्दृष्टिको होता है।	४६
	५ अधर्मको धर्म कौन मानता है ?	४६
१३	सच्ची सामायिक-क्रियाका स्वरूप	४९
	१-२ सामायिकके प्रकार	५०
	३ सामायिकका अर्थ	"
	४ निश्चय-व्यवहार सामायिक	५० ५१
	५ ज्ञानीके व्यवहार व्रतके परिणाम हैं वह आस्रव तत्त्व है जो किसी भी व्रतको तत्त्वतः उपादेय मानता है वह ठीक नहीं है।	५१ से ५३
	सम्यग्दृष्टिको व्रतके द्वारा संवर-निर्जरा होती है ?	५३
	चारित्रके १३ भेदमें महाव्रत क्यों आता है ?	
	अज्ञानीके व्रत ?	५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
१४	कुप्रतिक्रमण-सुप्रतिक्रमणका स्वरूप	५४
	१-२-३ प्रतिक्रमणकी चालू रीति रूढ़ि की अयथार्थता,	५४
	४ निश्चय प्रतिक्रमण	५४-५५
	५ इस प्रकारके उपदेशसे लोगोंमें जो सामायिक प्रतिक्रमणकी क्रिया है वह छोड़ देंगे, यह शंका ठीक नहीं है, किन्तु उनके सच्ची समझ होने से लोगों में सुधार होगा।	५५-५६
१५	सच्चा प्रत्याख्यान क्या है ?	५६
	१ व्याख्या-अर्थ-स्वरूप	५७
	२ उनका विशेष कथन	५७
	३-४ परवस्तुका संयोग ज्ञानीको किस प्रकार छूटता है ?	५६-६०
	५ व्यवहार प्रत्याख्यान; शुद्धोपयोगकी कणिकाका जागना।	६०-६१
१६	सच्चा (सम्यक्-सत्) तप क्या है ?	६१
	१ व्याख्या, आधार	६१
	२-१२ प्रकारके तप उपचार (व्यवहार) तप	६२
	३ यदि ऐसा मानें तो हम उपवासादि नहीं	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	करेंगे। उनका समाधान	६२-६३
	४-५ अन्तरंग तप, सच्चा तप, बाल तप	६३-६४
१७	सच्ची (सम्यक्) गुप्ति-समिति क्या है ?	६४
	१-२ शुभ प्रवृत्ति गुप्ति नहीं है, सच्ची गुप्ति। ३ समिति परकी रक्षार्थ ही नहीं है। ४-५ सच्ची समिति, सच्ची समिति-पैरा नं० २।	
१८	धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषह जयका स्वरूप	६५
	तीनोंका वर्णन	६५-६७
१९	भक्ति का स्वरूप	६७
	१ जो भक्ति सराग है तो ज्ञानी क्यों करते हैं ?	
	२-३-४-५ पंचास्तिकाय आदिमें क्या कहा है ?	६८-६९
२०	प्रशस्त राग-दान, शील, तप, भाव	७०
	१-नीचली भूमिकामें प्रशस्त राग हो किन्तु उसे श्रद्धामें मानो कि वह वास्तवमें धर्म नहीं है। २-अभिप्रायमें भूल। ३ सम्यग्दृष्टि प्रशस्त रागका उपाय करता है वह क्या है ? ४-५ श्रावकके कर्त्तव्य, दानका स्वरूप, शुभ-अशुभभावमें विवेक और शुद्ध दान।	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
२१	देह-दमन-इन्द्रियनिग्रह, शारीरिक क्रियाका स्वरूप	७४
	१-देह, जड़ इन्द्रियाँ जो परद्रव्य हैं उनका परिणमन उनकी क्रियावती शक्तिसे होता है, जीव परमें कुछ भी कर नहीं सकता है।	
	२-असद्भूत व्यवहारनयका अर्थ	
	३-देह और इन्द्रियोंका निग्रह कैसे हो सकता है ?	
	४ देहादि प्रति जीवका अधिकार मानना मिथ्या होनेसे क्लेश एवं आर्त्तध्यान होता ही है।	
	५ सच्चा देहदमन; मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण	
२२	मोक्षमार्गमें ज्ञान कितने प्रतिशत और देह या रागकी क्रिया कितने प्रतिशत है ?	७९
	१-२ सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रके १०० प्रतिशत, मोक्ष अर्थात् परिपूर्ण पवित्रता।	
	३-पाँचों क्रियाका नाकार	
	४-तीनों गुणकी पूर्णता,	
	५-दोषोंसे मुक्त होना-पूर्ण सुखकी प्राप्ति है।	
२३	जीवको प्रथम क्या करना चाहिये ?	८० से ८६
	१-२ मोक्षमार्ग प्रकाशकमें से आधार, सर्व प्रथम आत्मज्ञानकी प्राप्ति	
	३ रागादि कैसे मिटे ?	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	४–५ आत्म सिद्धि आदि आधार	
२४	निमित्त परका क्या कुछ कर सकता है ? भाग–१	८७
	१ परिणमन क्रिया परकी अपेक्षा रखती ही नहीं	
	२ द्रव्यकी विकारी अशुद्ध पर्यायके समय अन्य संयोग तो स्वयं स्वतः उपस्थित होता ही है	
	३ एक सहज निमित्त-नैमित्तिकभाव है जो निमित्त होने पर भी उनके बिना उपादान स्वयं अपने कार्यरूप परिणमित होता ही है।	
	४ कर्मोदय बन्धनका कारण नहीं है।	
	५ उपादानके स्वमें १०० प्रतिशत निमित्तके निमित्तमें १०० प्रतिशत कोई भी द्रव्य-गुण-पर्याय अन्य द्रव्य-गुण या परपर्यायरूप परिणमित होता नहीं फिर वह दूसरेमें क्या करे ? कुछ भी नहीं।	
२५	निमित्त परद्रव्यका क्या कर सकता है ? भाग–२	९१
	१ पुद्गल कर्मकी जीवके ऊपर बलजबरी किंचित् नहीं है।	
	२ निमित्त उपादानको कुछ करदे, ऐसा नहीं है।	
	३–द्रव्यकर्म, जीवको हैरान नहीं कर सकता, जीवको ही परके दोष देखनेका अभ्यास है पर तुझे कुछ कर्ता नहीं तो फिर उन पर कोप क्यों ?	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	४–परद्रव्य मुझे रागादि कराते हैं ऐसा मानने वाले हैं वे नय विभागको तथा शास्त्रके अर्थको समझते नहीं।	
	५–परद्रव्य (-निमित्त) बलात् किसीका बिगाड़ करनेवाला नहीं है।	
	प्रश्न—अन्य कर्म जीवको निमित्त क्यों नहीं होता? समाधान।	
२६	निमित्त परद्रव्यका क्या कर सकता है ? भाग–३	९७
	१–जीव जड़का कुछ कर सकता नहीं, न जड़ ही जीवका।	
	२–कोई किसीका निमित्त बन सकता नहीं।	
	३–निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध-व्यवहार है।	
	४–उपचारका अर्थ,	
	५–निश्चय-व्यवहारके कथनको दोनोंको समान एवं सत्यार्थ माना नहीं जाता।	
२७	निमित्त परद्रव्यका क्या कर सकता है ? भाग–४	१०२
	१–एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कार्य नहीं कर सकता उस नियमके आधार।	
	२–एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको अकिंचित्कर है।	
	३–निमित्तका अर्थ	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	४-प्रश्न—तो झूठ बोलना नहीं, आदि उपदेश मिथ्या हो जावेगा। उनका समाधान	
	५-व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है।	
	प्रश्न—ऐसी निश्चय बात सुनकर तो अव्यवस्था होगी।	
	समाधान–लौकिक दृष्टिसे, और धार्मिक दृष्टिसे।	
२८	निश्चय-व्यवहारके प्रश्न और उनके अर्थ	१०९
	१ कथनमें व्यवहार आता है।	
	२ निश्चयका अर्थ,	
	३ व्यवहारका अर्थ,	
	४ जीव अंगुली उठा नहीं सकता।	
	५ शरीरकी क्रिया आस्रव नहीं है; निश्चय-व्यवहारकी समझ, नयका अर्थ, अज्ञानीकी समझ कैसी है ?	
२९	जीवकी अनादिसे चली आ रही भूलें	११५
	१ सात तत्त्वोंमें जीवकी विपरीत मान्यता।	
	२ उनका कारण निसर्ग मिथ्यादर्शन।	
	३ जीव अर्थात् आत्मा।	
	४ सम्यग्दर्शनसे ही वह भूलें मिटती हैं, संसारका अर्थ।	
	५ अपना स्वरूप समझना,—फलमें अनंत सुख।	
३०	जीवके अनादिके सात व्यसन	११७
	१-२ वह दोष अनित्य है अनादिके हैं।	
	समयसार नाटकमें ७ व्यसनका स्वरूप	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	३ वह भाव व्यसनके अर्थ	
	४ लौकिक सात व्यसन छोड़कर नीतिका पालन करना शुभभाव है।	
	५ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और दोष छूटनेका क्रम।	
३१	सत्य पुरुषार्थ	११९
	१ पुरुषार्थ दो प्रकारके हैं सत्य और असत्य।	
	२ राग द्वेष-मोह मेटनेका पुरुषार्थ सत्य पुरुषार्थ है।	
	३ उसके आधारमें गाथा ८८ प्रवचनसार	
	४ मोक्षके साधनमें पुरुषार्थकी मुख्यता।	
	५ परमार्थकी रुचि हो तो सत्य पुरुषार्थ करो।	
३२	सम्यक् तपका स्वरूप भाग–१ (संवाद)	१२२ से १३०
३३	सम्यक् तपका स्वरूप भाग–२ (संवाद)	१३१
३४	दया, दान आदिका वास्तविक स्वरूप (संवाद)	१३९
३५	त्रासका साम्राज्य और उसे दूर करनेका उपाय सम्यग्ज्ञान।	१५५
३६	विश्व प्रेम (संवाद)	१६७
३७	पापको मिटानेका सत्य उपाय (संवाद)	१७२
	१–मिथ्यादर्शनरूपी महान पाप।	१७३
	२–पुण्यसे सच्चा धर्म नहीं होता।	१७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
	३-शुभभाव करना वह पापको नष्ट करनेका-सच्चा उपाय नहीं है। पापका नाश कौन कर सकता है ?	१७५-७६
	स्वरूपकी समझ किये विना पुण्य-पापका चक्र चलता ही है।	१७७-७८
	पुण्यका स्वरूप और पापका फल।	१७९-८०
	शुभभाव करते करते पापबन्ध हो जाता है, उसका कारण	१८१ से ८४
	शुद्ध, शुभ और अशुभभावके दृष्टान्त	१८५-८६
३८	पाप दूर करनेका सच्चा उपाय क्या है ? (संवाद भाग-२)	१८७
	आत्मज्ञ सम्यग्दृष्टि साधक जीवके पुण्यका स्वरूप। पुण्यका अधिकारी वही है ?	१८९ से ९३
३९	सच्चा 'मिच्छामि दुष्कृतं' कब होता है ?	१९३ से १९८
४०	सच्चा प्रतिक्रमण (संवाद)	१९८ से २०७
४१	व्यवहार (प्रश्नोत्तरमें)	२०७ से २१२
४२	प्रश्नोत्तर	२१२ से १६
४३	धर्मकी क्रिया प्रगट करनेके सम्यग्दर्शनकी भावना कीजिये	२१६ से २०
४४	अधर्मकी क्रिया दूर करनेके लिये मिथ्यात्वका वमन करो	२२० से २२५
४५	क्रिया-क्रियाकी सामान्य व्याख्या	२२६ से २३५
४६	तत्त्व चर्चा	२३५ से २४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

❋ श्री वीतरागाय नमः ❋

ॐ

धर्म की क्रिया

प्रकरण : १

ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः—भाग १

१—प्रकरण के प्रारम्भ में दिया हुआ सूत्र बिल्कुल छोटा-सा है, परन्तु उसका अर्थ सामान्य मनुष्य जो कि अपने को धर्मी होना मानते हैं, वे अधिकांश नहीं समझते, इससे यहाँ लिखा जाता है।

२—क्रिया शब्द का अर्थ निम्नानुसार है :—

(अ) आत्मा या पुद्गल का एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन सो क्रिया है। यह व्याख्या श्री राजवार्तिक निम्नानुसा . . है :—

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशांतर-प्राप्तिहेतुः क्रिया ॥१॥

अर्थ :—उभयनिमित्त अर्थात् आभ्यंतर और बाह्य कारणों के द्वारा द्रव्य को एक देश से अन्य देश की जो प्राप्ति होती है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी विशेष पर्याय (अवस्था) का नाम क्रिया है। (देखो राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ७ पृष्ठ १६६) [इस क्रिया का मोक्ष के साथ संबंध नहीं है।]

(ब) क्रिया का दूसरा अर्थ परिणति है; श्री समयसार में कलश ५१ में क्रिया का अर्थ निम्न प्रकार दिया है :—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।५१।

अर्थ :—जो परिणमित होता है वह कर्ता है, (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है, यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं ।५१। (देखो हिंदी समयसार पृष्ठ १४३ गाथा ८६)

(क) आत्मा के तथाविध परिणाम हैं वह जीवमयी क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों के परिणामलक्षण सो क्रिया है; आत्मा के परिणाम आत्मा की क्रिया होने से वह जीवमयी क्रिया कही जाती है; जिस द्रव्य की जिस परिणामरूप क्रिया है उससे वह द्रव्य तन्मय है; इसकारण जीव भी तन्मय होने से वह जीवमयी क्रिया उस जीव की (आत्मा की) क्रिया है। [देखो श्री प्रवचनसार पृष्ठ १७१ १७२ संस्कृत तथा हिन्दी टीका] आत्मा और जीव इनका एक ही अर्थ में उपयोग होता है, इससे पर्यायवाची शब्द हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी उसी प्रकार निम्न शब्दों में कहते हैं:—'सर्व पदार्थ अर्थक्रिया सम्पन्न हैं, कुछ न कुछ परिणामक्रिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहित ही सर्व पदार्थ दिखाई देते हैं; आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है।' (देखो श्री सर्वसामान्य प्रतिक्रमण आवश्यक पृष्ठ ६)

३—क्रिया शब्द के अर्थ ऊपर कहे, उन पर से निम्नप्रकार सिद्धान्त होते हैं।

(१) प्रत्येक द्रव्य का परिणाम सो क्रिया होने से और छह प्रकार के होने से निम्न छह क्रियायें हुईं।

अ—जीव की क्रिया, वह चैतन्यक्रिया (शुद्ध, शुभ, अशुभ)

ब—पुद्गल की क्रिया अर्थात् एक पुद्गल से लेकर अनन्तानन्त पुद्गलों की होनेवाली क्रिया, वह पौद्गलिक क्रिया। शरीर पुद्गल होने से, उसकी जो क्रिया है सो जड़क्रिया है।

क—धर्मास्तिकाय का परिणमन सो धर्मास्तिकाय की क्रिया।

ख—अधर्मास्तिकाय का परिणमन सो अधर्मास्तिकाय की क्रिया।

ग—आकाश का परिणमन सो आकाश की क्रिया।

च—कालद्रव्य का परिणमन सो काल की क्रिया।

(२) जीव और पुद्गल का आकाश के एक क्षेत्र में से अन्य क्षेत्र में गमन सो गमनक्रिया।

(ऊपर ब, क, ख, ग, च और पैरा (२) में बतलाई हुई क्रियायें मोक्ष की क्रिया नहीं हैं। अ सम्बन्धी स्पष्टीकरण पैरा ४)

४—मोक्ष जीव का होता है, इससे जीव की क्रिया द्वारा मोक्ष होता है। जीव की क्रिया शुद्ध और अशुद्ध-ऐसे दो प्रकार की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है; उसमें से जीव की शुद्ध क्रिया द्वारा मोक्ष होता है और अशुद्ध क्रिया द्वारा संसार होता है; इसलिये यहाँ जीव की शुद्ध क्रिया, ऐसा अर्थ लेना चाहिये।

५—ज्ञान का अर्थ 'सम्यग्ज्ञान' होता है, और क्रिया का अर्थ 'शुद्धात्म अनुभव क्रिया' होता है; इस विषय में समयसार नाटक में निम्नानुसार कथन है।

(दोहा)

सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्रिग दौर।
मुक्ति-पंथ साधन यहै, वाग्जाल सब और ॥१२६।

[सर्वविशुद्धि द्वार]

अर्थ—सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान और शुद्धात्मअनुभव क्रिया, यह मोक्ष का मार्ग और साधन है, अन्य सब वाग्जाल है। १२६।

इस पर से सिद्ध हुआ कि 'क्रिया' का अर्थ इस स्थान पर—ज्ञान में स्थिरता अर्थात् शुद्धात्म-अनुभव क्रिया है। शुभ-अशुभ भाव-क्रिया या शरीर की क्रिया नहीं है।

प्रकरण : २

ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः—भाग २

१—पहले प्रकरण में आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध-ऐसी दो प्रकार की क्रिया कही है, उस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२—आत्मा की शुद्धक्रिया को ज्ञानक्रिया कहा जाता है, और आत्मा की अशुद्ध क्रिया को क्रोधादिक्रिया कहा जाता है। पहली अर्थात् ज्ञानक्रिया का कोई भी ज्ञानी निषेध नहीं करते और दूसरी अर्थात् क्रोधादिक्रिया का अनन्त ज्ञानियों ने निषेध किया है। 'क्रोधादि'—इस शब्द का अर्थ है 'जीव के मिथ्यात्व और राग–द्वेष–रूप भाव।' इस सम्बन्ध में श्री समयसार की गाथा ६९–७० की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने निम्नप्रकार कहा है :—

'जिस प्रकार यह आत्मा, जिनको तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होने से उनका भेद न देखता हुआ, निःशंकता पूर्वक ज्ञान में अपने रूप से प्रवर्तमान रहता है, और वहाँ (ज्ञान में अपने रूप से) प्रवर्तन करता हुआ वह, ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने के कारण उसका निषेध नहीं किया है इसलिये, जानता है—जाननेरूप परिणमित होता है; उसीप्रकार जहाँ तक यह आत्मा, जिनको संयोग सिद्धसम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी, अपने अज्ञानभाव के कारण, विशेष न जानता हुआ उनका भेद नहीं देखता तबतक निःशंकता पूर्वक क्रोधादि में अपनेरूप से प्रवर्तमान रहता है, और वहाँ (क्रोधादि में अपनेरूप से) वर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रिया परभावभूत होने से उसका निषेध किया गया है, तथापि उसे वह स्वभावभूत होने का अध्यास होने से क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३—ज्ञानक्रिया को 'ज्ञप्तिक्रिया' भी कहा जाता है, और क्रोधादि क्रिया को 'करोतिक्रिया' भी कहा जाता है। उस अशुद्ध क्रिया के दूसरे भी नाम हैं, वे आगे कहे जायेंगे।

४— करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती, और जाननेरूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती। इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और करोतिक्रिया दोनों भिन्न हैं। (देखो समयसार कलश ९७)

भावार्थ—'मैं परद्रव्य को करता हूँ'—ऐसे भावरूप जब आत्मा परिणमित होता है तब वह कर्ताभावरूप परिणमन क्रिया करता होने से अर्थात् करोतिक्रिया करता होनेसे कर्ता ही है, और जब 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ'—ऐसा परिणमित होता है तब ज्ञाताभावरूप परिणामित होने से अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया करता होने से ज्ञाता ही है। (देखो समयसार कलश ९७ का भावार्थ)

उपरोक्त नियम से सिद्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञान और जड़ की क्रिया—इन दोनों के एकत्रित होने से मोक्ष होता है, ऐसा किसी भी ज्ञानी ने स्वीकार नहीं किया है; परन्तु आत्मा के सम्यग्ज्ञान और स्थिरतारूप क्रिया अर्थात् शुद्धज्ञान और शुद्धचारित्र-रूप क्रिया द्वारा मोक्ष होता है, ऐसा अनन्त ज्ञानियों ने स्वीकार किया है। ज्ञप्ति क्रिया को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का सम्यग्चारित्र भी कहा जाता है।

५—जगत में जो क्रिया है वह सब परिणाम (अवस्था, हालत, दशा) स्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है (–परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (पृथक्–पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं) इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि जो भी क्रियाएँ हैं वे सब क्रियावान से (द्रव्य से) भिन्न नहीं हैं। ऐसी, वस्तुस्थिति से ही अर्थात् वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने के कारण क्रिया और कर्ता का अभिन्नत्व सदैव तपनु' होने से, जीव जिस प्रकार व्याप्य–व्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावकभाव से उसीका अनुभवन करता है; उसी प्रकार यदि व्याप्य–व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य–भावक भाव से उसीको भोगे तो वह जीव, अपनी और पर की एकमेक हुई दो क्रियाओं से अभिन्नत्व का प्रसंग आने पर स्व–पर का परस्पर विभाग अस्त हो जाने से (नाश को प्राप्त होने से) अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभवन करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है। दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता, चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियाएँ करता माने वह मिथ्या-दृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य करता है—ऐसा मानना जिनका मत नहीं है। (समयसार गाथा ८५) इस प्रकार क्रिया का अर्थ परिणाम, पर्याय, हालत, दशा अथवा वर्तमान अवस्था होता है इससे 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' इस सूत्र में ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान और क्रिया का अर्थ—'स्थिरतारूप वर्तमान वर्तती चारित्र की अवस्था' होता है; और उसीप्रकार ही सर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विकार का नाश होता है, उस पवित्रता का नाम मोक्ष अर्थात् विकार (अपवित्रता) से मुक्तपना है।

नोट—व्यापक=फैलनेवाला (-प्रसरनेवाला) द्रव्य; व्याप्य=फैली (-प्रसरित) हुई दशा; भावक=भोगने वाला; भाव्य=भोगने योग्य दशा; व्यापक द्रव्य है, व्याप्य उसकी पर्याय है; भावक द्रव्य है, भाव्य उसकी पर्याय (अवस्था) है।

प्रकरण : ३

ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः : भाग—३

१—'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' अत्यन्त छोटा सूत्र है, परन्तु इस छोटे से सूत्र में गम्भीर मर्म भरा हुआ है; उस मर्म की जिसे खबर नहीं है वह अर्थ करने में भूल करेगा—यह तो स्वाभाविक है।

२—यह सूत्र संस्कृत भाषा में है, इससे जो मागधी भाषा के मूल सूत्र को ही मात्र मानें और उसके अतिरिक्त अन्य किसी को तीर्थंकरप्रणीत न मानें, उनका तो इस सूत्र के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। तथापि कितने ही लोग यह सूत्र अपनी मान्यता की पुष्टि करता है—हाँ कहता है, ऐसा मानकर अपने अनुकूल अर्थ करते हैं। वे क्या अर्थ करते हैं और वह अर्थ बराबर है या नहीं उसका यहाँ विचार करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३—कितने ही कहते हैं कि—आत्मा के ज्ञान और जड़ (शरीर) की क्रिया से मोक्ष होता है, उनकी स्वीकृति में ऐसी दलील करते हैं कि यह सूत्र द्विवचन में है, इसलिये आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया–ऐसे दोनों को न लें तो द्विवचन नहीं आयेगा, इसलिये व्याकरण की दृष्टि से ऐसा ही अर्थ होता है।

यह सूत्र द्विवचन में है, यह यथार्थ है, परन्तु उससे 'शरीर की क्रिया'—ऐसा अर्थ नहीं होता। उसके कारण निम्न प्रकार हैं :—

(अ) शरीर एक द्रव्य नहीं है, परन्तु अनन्त पुद्गल द्रव्यों का बना हुआ है; इससे एक आत्मा और अनन्त पुद्गल द्रव्यों (शरीर) की क्रिया होने से अनन्त द्रव्यों की क्रिया अनन्ती होगी; अर्थात् मोक्ष एक आत्मा के ज्ञान और अनन्त पुद्गल द्रव्यों की जो अनन्ती क्रिया एक समय में होती है उससे होगा—ऐसा अर्थ होता है; परन्तु इस सूत्र में तो द्विवचन है परन्तु बहुवचन नहीं है, इसलिये वह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से मिथ्या सिद्ध होता है।

(आ) जब शरीर का कार्य होता है तब जड़कर्मों का भी कार्य होता है। जड़कर्म के उदय का और शरीर की क्रिया का सम्बन्ध है, इससे यदि जीव के आत्मज्ञान से और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता हो तो वास्तव में ऐसा कहना चाहिये कि जीव का आत्मज्ञान, अनन्त कर्म की क्रिया और शरीर की क्रिया–इन तीनों से मोक्ष होता है। शरीर अनन्त द्रव्यरूप है और जड़कर्म भी अनंत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य हैं, तथापि प्रत्येक को एक-एक द्रव्य लें, तो भी तीन हुए, इससे भी उपरोक्त अर्थ व्याकरणदृष्टि से मिथ्या सिद्ध होता है। जहाँ तीन हों वहाँ संस्कृत में द्विवचन नहीं आता; परन्तु बहुवचन आता है।

(इ) प्रत्येक जीव एक है। शरीर अनन्त द्रव्यों का पिण्ड है। शरीर के एक पिण्ड की स्थूल दृष्टि से भी एक क्रिया नहीं होती; जिस प्रकार जीव ध्यान में हो तब शरीर की अवस्था की क्रिया का विचार किया जाये तो पैर इत्यादि बैठने के आकार में हैं, कमर के ऊपर के भाग की क्रिया उससे भिन्न अर्थात् सीधी खड़ी हुई है और हाथों की स्थिति उससे भी भिन्न प्रकार की होती है, मुख की स्थिति सीधी या नमी हुई भी होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवयवों की क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार की है; परन्तु सूत्र में तो द्विवचन है, आर यह तो दो की अपेक्षा अधिक क्रियाएँ हुईं, इस प्रकार भी व्याकरण की दृष्टि से वह अर्थ मिथ्या सिद्ध होता है।

(ई) कितने ही जीवों को दुष्ट घाणी में डालकर पेलते हैं और ज्ञानी उस समय साम्यभाव रखकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। अब यहाँ घाणी में पेलने के कार्य में शरीर के अवयवों की क्रियाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं, इससे भी वहाँ 'भ्याम्' द्विवचन बतानेवाला शब्द नहीं होना चाहिये, परन्तु बहुवचन बताने वाला शब्द होना चाहिये। इस प्रकार भी अर्थ मिथ्या सिद्ध होता है।

४—सैद्धान्तिक दृष्टि से वह अर्थ मिथ्या है, उसके कारण निम्न प्रकार हैं :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) प्रत्येक जीव एक चैतन्यद्रव्य है। मोक्ष जीव की पूर्ण पवित्र अवस्था है। मोक्ष अर्थात् विकारी अवस्था से मुक्त होना। जीव स्वतः अपने द्वारा अपने में विकार करता है, इसलिये स्वतः अपने द्वारा अपने में से विकार को दूर करे तो हो सकता है। यदि जीव जड़ का कुछ कार्य करे तो जड़ हो जाये; यदि शरीर जीव का कार्य करे तो वह अनन्त पुद्गल द्रव्य मिटकर एक चैतन्य द्रव्य हो जाये। इस प्रकार द्रव्यों का लोप होने लगे तो जीव का भी लोप हो जाये; इसलिये जीवका आत्मज्ञान और शरीर की क्रिया द्वारा मोक्ष होता है—ऐसा मानना मात्र भ्रम है।

(२) जीव में पुद्गल व्याप्त नहीं होता, पुद्गल में जीव व्याप्त नहीं होता; तब फिर जो पुद्गल अपने में व्याप्त होता है और जीव में व्याप्त नहीं होता—ऐसे अनन्त पुद्गल अपनी क्रिया से आत्मा को किस प्रकार मोक्ष में ले जायेंगे ? नहीं ले जा सकते—यह स्पष्ट है।

(३) जीव और शरीर दोनों एकत्रित होकर मोक्ष का कार्य करें तो जीव और शरीर दोनों को मोक्ष क्षेत्र में जाना चाहिये; परन्तु वैसा नहीं होता। जीव अकेला ही मोक्ष क्षेत्र में जाता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मसिद्धि शास्त्र में कहते हैं कि :—

अे ज धर्म थी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप
अनन्त दर्शन-ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥११६॥

यहाँ तो जीव अकेले को ही मोक्षस्वरूप कहा है; जीव और शरीर को मोक्ष स्वरूप नहीं कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) एक द्रव्य की पर्याय यह द्रव्य स्वतः ही करता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य से-क्षेत्र से-काल से-भाव से अस्तिरूप है और पर द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से-भाव से नास्तिरूप है। शरीर अनन्त द्रव्य हैं, उसका प्रत्येक परमाणु भी अपने-अपने स्वद्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से अस्तिरूप है, और शरीर के अन्य परमाणु के द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से नास्तिरूप है; इससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता इसलिये जीव के ज्ञान और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता है—यह मानना बिल्कुल मिथ्या है।

५—जब जीव में सम्यग्ज्ञान हो तब उसी समय सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती। (सम्यग्दर्शन में लब्धि और उपयोग के भेद नहीं हैं किन्तु छद्मस्थ दशा में) सम्यक्ज्ञान किसी समय लब्धिरूप और कभी उपयोगरूप होता है, इससे ज्ञान सम्यक् हो परन्तु पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो वहाँ तक मोक्ष नहीं होता। वीतरागता जीवकी शुद्ध क्रिया है, उसे चारित्र की निर्मल क्रिया कहा जाता है और ज्ञान की स्थिरता भी कहा जाता है। इससे इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार होता है :—

(१) जीव का सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की पूर्णता से मोक्ष होता है।

(२) जीव का सम्यग्ज्ञान और उस सम्यग्ज्ञान से ज्ञान में पूर्ण स्थिरतारूप क्रिया से मोक्ष होता है।

(३) जीव का सम्यग्ज्ञान और पूर्ण वीतरागतारूप अपनी पर्याय (क्रिया, परिणमन) से मोक्ष होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) जीव के दो गुणों की पूर्णता वहाँ आती होने से व्याकरण के नियमानुसार उसमें द्विवचनसूचक 'भ्याम्' शब्द यथार्थ आया है।

(५) जहाँ सम्यग्ज्ञान हो वहाँ सम्यग्दर्शन होता है, इससे 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—ऐसा भी उपरोक्त सूत्र का अर्थ होता है।

प्रकरण : ४

ज्ञप्ति क्रिया भाग—१

१—यहाँ ज्ञप्ति क्रिया का विशेष स्वरूप बताया जाता है; उसका स्वरूप समयसार में निम्नानुसार दिया है :—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

अर्थ:—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करेगा ? आत्मा परभावों का कर्ता है—ऐसा मानना (तथा कहना) वह व्यवहारी जीवों का मोह-अज्ञान है। [समयसार कलश ६२]

२—आत्मा की क्रिया दो प्रकार की है, एक 'ज्ञप्तिक्रिया' और दूसरी 'ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया'। उसमें ज्ञानकी राग-द्वेष-मोहरहित ज्ञाता रूप क्रिया को 'ज्ञप्तिक्रिया' कहा जाता है, और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो राग-द्वेष-मोह से पदार्थ को जानना उस क्रिया को 'ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया' कहा जाता है। ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया से बंध होता है और ज्ञप्ति क्रिया से बंध नहीं होता। [प्रवचनसार अध्याय-१ गाथा पर नीचे की टीका]

३—कितने ही लोग कहते हैं कि:—ज्ञान, क्या कोई क्रिया कहलाती है? अन्य कुछ करना चाहिये; उन्हें इतना ही उत्तर बहुत है कि:—'आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त और क्या कर सकता है? या तो ज्ञान करेगा और नहीं तो अज्ञान।' अनादि से चली आ रही ज्ञान की भूल को दूर करना और मिथ्या ज्ञान को टाल कर सम्यग्ज्ञान प्रगट करना वह ज्ञान की क्रिया है; वह ज्ञान की क्रिया सम्यग्दृष्टि को (चौथे गुणस्थान में) प्रगट होती है, और उस ज्ञान में स्थिरतारूप क्रिया बढ़ते-बढ़ते उस ज्ञान की स्थिरता रूप पूर्ण क्रिया वह 'यथाख्यातचारित्र' है। सम्यग्दृष्टि के ही यह ज्ञप्ति क्रिया होती है; परन्तु मिथ्यादृष्टि के वह क्रिया नहीं होती। जीव क्रियासम्पन्न होने से मिथ्यादृष्टि के 'करोतिक्रिया' अर्थात् 'ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया' होती है। ऊपर के पैरा नं० २ में मोहका अर्थ मिथ्यात्व और राग-द्वेष का अर्थ अनन्तानुबंधी राग-द्वेष होता है। सम्यग्दृष्टि के वैसा राग-द्वेष-मोह नहीं होता, इससे सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह रहित जानने की क्रिया अर्थात् ज्ञप्ति-क्रिया होती है। इस सम्बन्ध में श्री समयसारजी में निम्नानुसार कथन है:—

'यहाँ कोई पूछता है कि, अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को जब तक चारित्रमोहका उदय है तब तक वह कषायरूप परिण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मित होता है तो उसे (करोतिक्रिया का) कर्ता कहा जाता है या नहीं? उसका समाधानः—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तापने का अभिप्राय नहीं है; कषायरूप परिणमन है वह उदय की बलजोरी से है, उसका वह ज्ञाता है; इससे अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व उसके नहीं है। × × ×'

इस प्रकार अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञप्ति क्रिया है परन्तु करोति क्रिया नहीं है।

४—इस ज्ञप्ति क्रिया को 'ज्ञानक्रिया' भी कहा जाता है। उसका स्वरूप श्री समयसार नाटक में निम्नानुसार दिया हैः—

(दोहा)

ज्ञानक्रिया का स्वरूप

विनसि अनादि असुद्धता, होई सुद्धता पोख;
ता परिनति को बुध कहै, ज्ञानक्रिया सौ मोख।

(साध्य-साधक द्वार ३४)

अर्थः—जिससे अनादि की अशुद्धता का नाश हो और शुद्धता की पुष्टि हो, उस परिणति को (आत्मा की शुद्ध अवस्था को) ज्ञानी ज्ञानक्रिया कहते हैं और उससे मोक्ष होता है।

५—क्रिया का अर्थ शुद्धज्ञान में स्थिरतारूप चारित्र होता है। सच्चा (सम्यक्) चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही हो सकता है। अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र से मोक्ष नहीं हो सकता, इससे जहाँ उन दोनों का एकत्व हो वहीं मोक्ष होता है—ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बताने के लिये 'ज्ञानक्रिया से मोक्ष होता है'—ऐसा कहा है। आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया—इन दोनों के एकत्व से मोक्ष होता है—ऐसा बताने के लिये नहीं कहा है।

ऊपर से भी सिद्ध होता है कि आत्मा के शुद्धरूप (तद्रूप) परिणाम को ही क्रिया कहा जाता है।

प्रकरण : ५

ज्ञप्तिक्रिया भाग—२

१—आगे के प्रकरण में कहा है कि—सम्यग्दर्शन (ज्ञान) और ज्ञान में स्थिरतारूप चारित्र से मोक्ष होता है; वह दोनों आत्मा के गुण की शुद्ध अवस्थाएँ हैं। चारित्र कहीं जड़ शरीर की अवस्था नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री समयसार नाटक में निम्नानुसार कहा है :— (पृष्ठ ३६३-४)

जहाँ शुद्ध ज्ञान है वहाँ चारित्र है।

(सवैया इकतीसा)

'जहाँ सुद्ध ज्ञान की कला उदोत दीसै तहाँ,
सुद्धता प्रवांन सुद्ध चारित कौ अंस है।

(देखो सर्व विशुद्धिद्वार गाथा-८२)

अर्थ—जहाँ शुद्ध ज्ञान की कला का प्रकाश दिखाई देता है, वहाँ उसके अनुसार शुद्ध चारित्र का अंश रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२:—इस शुद्ध चारित्र को क्रिया कहा जाता है,—ऐसा गाथा ८४–८५ में कहा है। वह गाथा निम्न प्रकार है:—

ज्ञान–चारित्र पर पंगु–अन्ध का दृष्टान्त।

(दोहा)

ज्यों अन्ध के कंध पर, चढ़े पंगु नर कोइ;
वाके दृग वाके चरन, होंहिं पथिक मिलि दोइ ॥८४॥
जहाँ ज्ञान किरिया मिलै, तहाँ मोख-मग सोइ;
वह जानै पदकौं मरम, वह पद में थिर होइ ॥८५॥

अर्थ:—जिसप्रकार कोई लँगड़ा मनुष्य अन्धे आदमी के कंधों पर चढ़ जाये तो लँगड़े की आँखें और अन्धे के पैरों के योग से गमन होता है, उसीप्रकार जहाँ ज्ञान और चारित्र की एकता है वह मोक्षमार्ग है, क्योंकि ज्ञान आत्मा के मर्म को जानता है और चारित्र आत्मा के पद में स्थिरता प्रगट करता है।

नोट:—दृष्टान्त दो पृथक्–पृथक् द्रव्यों का है परन्तु द्राष्टान्त में (सिद्धान्तमें) आत्मा एक ही द्रव्य है और ज्ञान-चारित्र एक ही द्रव्य के दो गुणों की शुद्ध पर्याय है। दृष्टान्त सदैव सिद्धान्त को एक अंश में ही लागू होता है, सर्वांश में नहीं।

३:—ऐसा शुद्ध चारित्र (क्रिया) सम्यग्ज्ञानी के ही होता है— ऐसा अब बतलाया जाता है:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेदज्ञान का पराक्रम

(सवैया इकतीसा)

जैसें कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
खोदी मूल वृच्छकौ उखारै गहि बाहू सौं।
तैसें मतिमान दर्वकर्म–भावकर्म त्यागि;
ह्वै रहै अतीत मति ज्ञान की दशाहूसौं।
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार;
जगै जोति केवल प्रधान सविताहूसौं ॥५८॥

[देखो बंधद्वार, समयसार नाटक]

अर्थ:—जिसप्रकार कोई महाबलवान अज्ञानी मनुष्य वृक्ष की जड़ को अपने हाथ से उखाड़ डालता है; उसी प्रकार भेदज्ञानी पुरुष भावकर्म और द्रव्यकर्म को त्याग कर उससे पर (अतीत) होकर मतिज्ञान की दशा में रहता है; वह ज्ञान की क्रिया–अनुसार मोह अन्धकार का नाश करता है।

४:—सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग का साधक है; और इसी से कहा है कि:—जहाँ मोक्षमार्ग साधन किया वहाँ कहा कि—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' और ऐसा भी कहा है कि 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः'—इन दोनों सूत्रों का भाव एक ही है। (देखो बनारसीविलास पृ० २२९)

५:—जिसप्रकार ज्ञप्तिक्रिया को 'ज्ञानक्रिया' कहा जाता है, उसीप्रकार उसे अनुभवरूप क्रिया, ज्ञानवश क्रिया, शुद्ध चैतन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रिया, शुद्ध चारित्र—यह नाम भी दिये जाते हैं। 'अनुभवरूप-क्रिया'—यह भाव नीचे की स्तुति में आता है:—

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्व भावांतरच्छिदे ॥

(समयसार कलश १)

इस स्तुति में 'स्वानुभूत्या चकासते' इस पद का अर्थ ऐसा होता है कि, जीव अपनी ही अनुभवरूप क्रिया से प्रकाशित होता है, अर्थात् अपने को स्वतः ही जानता है।

प्रकरण : ६

ज्ञप्तिक्रिया भाग—२

१:—क्रिया का अर्थ ज्ञान में स्थिरतारूप शुद्धचारित्र है, ऐसा ऊपर बताया है, इससे 'चारित्र' क्या है वह यहाँ पर बतलाया जाता है।

२:—वास्तव में आत्मा में अपने स्वरूप के आचरणरूप जो चारित्र है वह धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव है। जो स्वभाव है वह धर्म है, इसकारण अपने स्वरूपको धारण करने से 'चारित्र' का नाम 'धर्म' कहा जाता है। जो धर्म है वही समभाव है। मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र रहित आत्मा के परिणाम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह साम्यभाव (समभाव) है, इससे 'वीतराग चारित्र' वस्तु का स्वभाव है। वीतराग चारित्र, निश्चय चारित्र, धर्म, समभाव, साम्यभाव, समपरिणाम—यह सब एकार्थवाची हैं। मोह से भिन्न जो आत्मा के निर्विकार परिणाम स्थिररूप सुखमय हैं वह चारित्र का स्वरूप है। शुद्ध चित्स्वरूप से चरण सो चारित्र है।

(देखो प्रवचनसार गाथा ७ सं० टीका)

३:—तब फिर यह प्रश्न उठता है कि—शरीर की जो क्रिया है वह निश्चयचारित्र को सहायक है या नहीं ?

उत्तर—नहीं। -पर की सहायता से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यदि आत्मा पराधीन हो तो आकुलतामय हो जाये, और जहाँ आकुलता है वहाँ स्वरूप की प्राप्ति नहीं है; इस कारण परकी सहायता के बिना ही आत्मा निराकुल होता है। ऐसी सुख दशा अपनी ही सहायता से स्वतः प्राप्त करता है। जो अपनी अनन्त शक्तिरूप संपदा से परिपूर्ण है वह दूसरों की अपेक्षा क्यों रखेगा ? कभी नहीं।

(देखो प्रवचनसार गाथा १६ की हिन्दी टीका, पं० हेमराज कृत)

४:—इससे सिद्ध हुआ कि—'शारीरिक क्रिया से' या 'करोतिक्रिया' से मोक्ष नहीं होता; और उससे 'ज्ञप्तिक्रिया' में क्रिया का अर्थ शुद्धस्वरूप में रमणतारूप स्थिरता है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है।

५:—इससे मोक्ष की क्रिया में 'क्रिया' शब्द का अर्थ निम्न प्रकारसे हुआ-(१) ज्ञप्तिक्रिया, (२) ज्ञानक्रिया, (३) ज्ञानवशक्रिया (४) शुद्ध चैतन्यक्रिया, (५) शुद्ध चारित्र, (६) अनुभवरूपक्रिया,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) वीतरागचारित्र, (८) निश्चयचारित्र, (९) स्वभाव, (१०) धर्म, (११) समभाव, (१२) साम्यभाव, (१३) समपरिणाम, (१४) आत्मा के स्थिररूप सुखमय निर्विकार परिणाम, (१५) शुद्धचित्स्वरूप का चरण कोई भी ज्ञानी इस क्रिया का निषेध नहीं करते किन्तु आचरण करते हैं। और आत्मा की समस्त विकारी क्रिया का अनन्त ज्ञानी निषेध करते हैं, क्योंकि वह कषायमयी है, अकषायीभाव की नहीं है,—इससे पर है। शरीर की क्रिया आत्मा कर नहीं सकता और वह आत्मा को सहायक नहीं है—यह तो ऊपर कहा है।

प्रकरण : ७

करोतिक्रिया भाग—१

१:—'करोतिक्रिया' का संक्षिप्त स्वरूप प्रकरण २–३ में कहा गया है, इस क्रिया के द्वारा आत्मा संसार की वृद्धि करता है; इससे उसे छोड़ने के लिये उसका स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

२:—रागादि या परवस्तु के प्रति एकत्वबुद्धि सहित शुभाशुभ भावरूप प्रवर्तमान जीव की अज्ञानमयपरिणति को 'करोतिक्रिया' कहा जाता है। उसका यदि छेदन किया जाये तभी मोक्ष होता है और यदि उसे अङ्गीकार किया जाये तो जीव संसारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहता है—इस सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में निम्नप्रकार कहते हैं :—

वीत्यो काल अनन्त ते, कर्म शुभाशुभ भाव;
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्षस्वभाव ॥९०॥

अर्थ—जीवने शुभाशुभभावरूप 'भावकर्म' किये, इससे अनन्तकाल व्यर्थ गया; शुभाशुभ भावों का यदि जीव छेदन करे तभी मोक्षस्वभाव (पवित्रता) प्रगट होता है।

फिर वे कहते हैं कि:—'शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामों पर सारा आधार है' (देखो व्याख्यानसार–श्रीमद् राजचंद्र, आवृत्ति ४, पृ० ६८३–पैरा १५२) इसलिये जीव के अध्यवसान पूर्वक शुभाशुभभाव सो अशुद्धपरिणाम हैं, और वही 'करोति क्रिया' है।

३:—इस सम्बन्ध में दो मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित हैं, वे यह हैं :—

(१) जीव को सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं वह जीव को स्वतः खबर नहीं पड़ती, केवलज्ञानी को ही खबर होती है; इसलिये जिस प्रकार रूढ़िगत क्रियाएँ हम करते हैं उसी प्रकार करते रहना चाहिये और उससे भविष्य में किसी समय आत्मा का शुद्धत्व प्रगट होगा।

(२) सामान्य मनुष्य तो आत्मा को समझते नहीं हैं, क्योंकि उसे समझना इस काल में कठिन है; इसलिये जो रूढिगत (नामनिक्षेप से) सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवासादि हम करते हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे करते रहना चाहिये और उससे भविष्य में आत्मा को मोक्ष का लाभ होगा, क्योंकि वे 'सामायिक आदि क्रियाएँ' संवर–निर्जरा-रूप हैं।

४:—इस सम्बन्ध में पहली मान्यता भी मिथ्या है, यह बतलाया जाता है:—श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—'लोग कहते हैं कि सम्यक्त्व है या नहीं, वह केवलज्ञानी जानते हैं, परन्तु स्वयं आत्मा है वह क्यों न जानेगा ? कहीं आत्मा बाहर नहीं गया है; अर्थात् सम्यक्त्व हुआ है या नहीं—वह आत्मा स्वत: जानता है; जिस प्रकार कोई पदार्थ खाये जाने से वह अपना फल देता है, वैसे ही सम्यक्त्व आने पर भ्रांति दूर होने से उसका फल स्वत: जानता है; ज्ञान का फल ज्ञान देता ही है। पदार्थ का फल पदार्थ लक्षण अनुसार देता ही है। आत्मा में से कर्म जा रहे हों तो उसकी खबर अपने को कैसे नहीं होगी ? अर्थात् होगी ही। सम्यक्त्व की दशा छुपी नहीं रहती (देखो श्रीमद् राजचन्द्र आवृत्ति ४—उपदेश छाया पृष्ठ ५४८) (स० सार गा० २७७ की जयसेनाचार्य कृत सं० टीका "जो जीव शुद्धात्मा को उपादेय श्रद्धते हैं उसे सप्त कर्म के उपशमादि होता है" अत: पता लगता है)

५:—श्री समयसार की गाथा ७५–१९८ से २०० में ज्ञानी के चिह्न बताये हैं। अब यदि जीव अपने को सम्यग्दर्शन का होना न जान सकता हो तो उसका ज्ञान ही सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसका मति–श्रुत ज्ञान अपने ज्ञान की पर्याय को यथार्थतया नहीं जानता। इस सम्बन्ध में गाथा ७५ में निम्नानुसार कथन है:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'अब पूछते हैं कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हुआ है—ऐसा कैसे जाना जाता है ? उसका चिह्न कहिये, उसके उत्तर-रूप गाथा कहते हैं:—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।७५।।

परिणाम कर्मतणुं अने नोकर्मनुं परिणाम जे
ते नव करे जे, मात्र जाणे, ते ज आत्मा ज्ञानी छे ।।७५।।

गाथा १९८ से २०० में निम्नप्रकार कहा है:—

'अब प्रथम, सम्यग्दृष्टि सामान्य रूप से स्व को और पर को इस प्रकार जानता है—ऐसा गाथा में कहते हैं:—

कर्मोतणो जे विविध उदयविपाक जिनवर वर्णव्यो,
ते मुज स्वभावो छे नहि, हुँ एक ज्ञायकभाव छुं ।।१९८।।

अब, सम्यग्दृष्टि विशेषरूप से स्व और पर को इस प्रकार जानता है:—

पुद्गल करमरूप रागनो ज विपाकरूप छे उदय आ,
आ छे नहीं मुज भाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव छुं ।।१९९।।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है—ऐसा आगे की गाथा में कहते हैं:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुदृष्टि ओ रीत आत्मने, ज्ञायकस्वभाव ज जाणतो,
ने उदय कर्मविपाकरूप ते तत्वज्ञायक छोड़तो ॥२००॥

इस सम्बन्ध में अधिक आधार आगे के प्रकरण में दिये जायेंगे।

प्रकरण : ८

करोतिक्रिया : भाग—२

१:—'करोतिक्रिया' के पिछले प्रकरण में 'दो मिथ्या मान्यताएँ चल रही हैं' उसमें एक मान्यता ऐसी है कि-अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है-यह छद्मस्थ जीव स्वयं नहीं जान सकता, परन्तु केवली भगवान ही जान सकते हैं; वह मान्यता मिथ्या है, ऐसा कितने ही शास्त्रों से बताया है, वह यहाँ विशेष बताया जाता है।

२:—'नय' है वह श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है; इससे यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों रहित आत्मा चैतन्यशक्ति मात्र है; वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही। और उसकी व्यक्ति कर्म संयोग से मति-श्रुतादि ज्ञानरूप है वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है। (देखो समयसार गाथा १४ का भावार्थ) इसप्रकार तो आप अपने सम्यग्ज्ञान को परोक्षरूप से जानता है, वैसे ही अनुभव गोचरपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से प्रत्यक्षरूप से जानता है। और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन अविनाभावी होने से सम्यग्दर्शन को भी छद्मस्थ जानता है। 'शुद्ध नय के विषयरूप आत्मा का अनुभव करो—ऐसा उपदेश है।' (देखो समयसार गा० १४ का भावार्थ) यह उपदेश भी यदि छद्मस्थ को सम्यग्ज्ञान की खबर न पड़ती हो तो वृथा जाये।

३:—समयसार की गाथा ५ में आचार्य भगवान कहते हैं कि—'उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव द्वारा दिखाता हूँ; यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना।' उसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि—'ऐसे जिस-जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का विभव है, उस समस्त विभव से दर्शाता हूँ। यदि दर्शाऊँ तो स्वयमेव (अपने आप) अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना।' आगे चलकर भावार्थ में बतलाया है कि—'आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन—इन चार प्रकारों से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान विभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओं! अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो।' इस पर से सिद्ध होता है कि अपने को सम्यक्त्व हुआ है वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) द्वारा खबर पड़ती है।

(देखो समयसार गा० ५)

४:—समयसार के ९वें कलश में आचार्य अमृतचंद्र देव बतलाते हैं कि:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

अर्थ:—आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि— इन सर्व भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्ध नयका विषयभूत चैतन्य चमत्कार मात्र तेज:पुंज आत्मा, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती; प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है वह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ:—× × × शुद्ध अनुभव होने से द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इस पर से भी सिद्ध होता है कि—चौथे गुणस्थान में भी आत्मा को स्वयं अपने सम्यग्ज्ञान का शुद्ध अनुभव होता है। समयसार में लगभग प्रत्येक गाथा में यह अनुभव होता है—ऐसा बतलाकर अनुभव करने का उपदेश किया है।

५:—श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि शास्त्र में भी कहते हैं कि:—

'वर्ते निज स्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत;
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित ॥१११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह गाथा भी कहती है कि छद्मस्थ को अपने निज स्वभाव का अनुभव होता है; और वह परमार्थ से सम्यक्त्व है।

नोटः—केवलज्ञानी और छद्मस्थ के बीच में अन्तर मात्र इतना ही है कि—केवली आत्मा को प्रत्यक्ष जानते हैं, और छद्मस्थ भावश्रुत ज्ञान के द्वारा परोक्षरूप से जानते हैं; और अनुभव से प्रत्यक्ष जानते हैं। परोक्ष ज्ञान सच्चा ज्ञान है क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष—ऐसे दो प्रकार का होता है। इससे जो सम्यग्ज्ञान प्रगट करे उसके करोति क्रिया होती ही नहीं।

प्रकरण : ९

करोतिक्रिया : भाग—३

(अपने को सम्यग्दर्शन है—ऐसा छद्मस्थ ज्ञानी जान सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित सर्व क्रिया करोतिक्रिया है।)

१:—यदि छद्मस्थ जीव को, सम्यग्दर्शन हुआ है—ऐसी खबर न पड़ती हो तो उसे प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करने का उपदेश दिया जाता है—वह निरर्थक जायेगा। श्री मोक्षपाहुड़ में 'श्रावक को प्रथम क्या करना चाहिये'—ऐसा प्रश्न पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं कि प्रथम निर्मल सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिये। वह गाथा निम्न प्रकार है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(गाथा)

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कंपम् ।
तत् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःख क्षयार्थे ॥८६॥

अर्थः—श्रावक को प्रथम सुनिर्मल और मेरुवत् निष्कंप-अचल अर्थात् चल, मल और अगाढ़—इन तीन दोषों से रहित अत्यन्त निश्चल ऐसे सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिये, और दुःखों के क्षय के लिए उसके ध्यान में रहना चाहिये ॥८६॥

सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा यदि छद्मस्थ न जान सकता हो तो प्रथम सम्यग्दर्शन को ग्रहण करो—ऐसा उपदेश कैसे बन सकता है ?

२:—दर्शनपाहुड की टीका में तो बतलाया है कि—सम्यग्दृष्टि यह तो जान सकता है कि अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है; परन्तु दूसरों को हुआ है या नहीं—वह भी जान सकता है; इस सम्बन्ध में वहाँ निम्नप्रकार कहा है :—

"और उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम से तथा अनुमान से तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष से इन प्रमाणों द्वारा की जाती है। और उसे निश्चयतत्त्व श्रद्धान भी कहा जाता है। वहाँ अपने को तो अपने स्वसंवेदन को प्रधान करके (परीक्षा) होती है और पर को पर की परीक्षा करके परके वचन और कार्य की क्रिया की परीक्षा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से अतरंग में (सम्यक्त्व) होने की परीक्षा होती है, यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं।"

इसप्रकार अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है वह छद्मस्थ परोक्ष श्रुतज्ञान तथा प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से जानता है। और परको हुआ है या नहीं वह परोक्ष श्रुतज्ञान से जानता है। श्रुतज्ञान सच्चा ज्ञान है। केवली भगवान अपना और परका सम्यग्दर्शन प्रत्यक्ष जानते हैं।

३:—समयसार गाथा १४४ में भी उसी अर्थ का लिखा है, उसका भावार्थ नीचे दिया है :—

भावार्थ:—आत्मा को पहले आगम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके, पश्चात् इन्द्रिय बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही एकमेक करके तथा श्रुतज्ञानरूपी विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके, एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना; वही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।

४:—सम्यक्त्व को जानने के निम्नोक्त चिह्न बताये हैं:—

(१) परमार्थ संस्तव।

(२) परमार्थ भलीभाँति दृष्टिगत हुआ है–ऐसों की सेवा।

(३) सम्यग्दर्शन नाश हुआ है–ऐसों का परिचय छोड़ना।

(४) कुदर्शनी की अर्थात् जिन्हें मिथ्या दर्शन है—जो आत्मा का स्वरूप नहीं जानते–ऐसों को छोड़ना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें प्रथम दो चिह्न 'अस्ति'रूप से और पिछले दो चिह्न 'नास्ति'रूप से कहे हैं। उसका विवरण निम्नप्रकार है :—

(१) परमार्थ संस्तवः—संस्तव का अर्थ स्तुति होता है। इस परमार्थस्तुति के तीन प्रकार हैं।

(अ) ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करना,

(ब) भाव्य-भावक-संकर दोष को दूर करना;

(स) भाव्य-भावक दोष का अभाव करना।

परमार्थ का अर्थ निश्चय है, इससे निश्चयस्तुति को यहाँ पर सम्यग्दर्शन का पहला लिंग (चिह्न) कहा है; उसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष के परिहाररूप स्तुति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है; भाव्यभावक-संकर दोष की स्तुति उपशमश्रेणी में होती है। और भाव्यभावक-संकर दोष का अभाव क्षपकश्रेणी में होता है। यहाँ निश्चय स्तुति को सम्यग्दर्शन का चिह्न कहा है, इससे निश्चय स्तुति क्या है वह यहाँ कहा जाता है :—

जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहु ॥३१॥

(समयसार)

अर्थः—जो इन्द्रियों को ('इन्द्रिय' शब्द लिया है—'द्रव्य-इन्द्रिय' नहीं लिया है, इसलिये भावइन्द्रिय और द्रव्यइन्द्रिय दोनों) जीतकर ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (-पर से भिन्न-स्व से परिपूर्ण) आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनय में स्थित साधु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं वे वास्तव में (यहाँ 'वास्तव में' शब्द है, इसलिये सच्चा जितेन्द्रिय कौन कहलाता है, वह बतलाया है।) जितेन्द्रिय कहते हैं।

टीका:—अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश से जिनमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया हैं (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं उन्हें तो निर्मल भेद–अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रगट हुआ जो अति सूक्ष्म चैतन्य-स्वभाव है उसके अवलम्बन के बल द्वारा पृथक् किया; यह द्रव्ये-न्द्रियों का जीतना हुआ। (निर्मल भेदज्ञान के अभ्यास क्रिया बतलाई है न कि शुभ राग)

भिन्न–भिन्न, अपने–अपने विषयों में व्यापारपने से जो विषयों को खण्ड–खण्ड ग्रहण करती हैं (अर्थात् ज्ञान को खण्ड खण्डरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आनेवाले अखण्ड एक चैतन्यशक्तिपने द्वारा अपने से भिन्न जाना; वह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ।

ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसे हो गये दिखाई देते हैं ऐसे, भावेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले जो इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थ हैं उन्हें, अपनी चैतन्यशक्ति का स्वयमेव अनुभव में आनेवाला जो असंगपना है उसके द्वारा अपने से पृथक् किया; यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को जीतना हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ हैं—उन तीनों को जीतकर, ज्ञेय-ज्ञायक-संकर नाम का दोष आता था वह सम्पूर्ण दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थतः पृथक्—ऐसे अपने आत्मा का अनुभवन करता है वह निश्चय से जितेन्द्रिय-जिन है।

(ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इससे उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है ज्ञान स्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तैरता हुआ (अर्थात् उन्हें जानता होने पर भी उनरूप नहीं होता हुआ) प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदैव अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतः सिद्ध और परमार्थरूप—ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है। इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

समयसार गाथा ३२ में भाव्यभावक भाव के संकर दोष को दूर करनेवाली दूसरी निश्चयस्तुति का वर्णन किया है। ऐसे जीव को निश्चय से जितमोह कहा जाता है। गाथा ३३ में 'क्षीण-मोह जिन' दशा यह तीसरी निश्चयस्तुति है।

नोटः—परमार्थ, भूतार्थ, सत्यार्थ यह पर्यायवाची शब्द हैं, इससे यहाँ 'परमार्थसंस्तव' का अर्थ होता है कि—'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। उसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है तबतक आत्मा के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता। (देखो समय-सार गा० ११ का भावार्थ)

(२) परमार्थ भलीभाँति दृष्टिगोचर हुआ है—वैसे जीवों की सेवना :—

यह बोल भी बतलाता है कि—दूसरा जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है या नहीं—वह निश्चित किया जा सकता है; क्योंकि यदि वह निश्चित न हो सकता हो तो उसकी सेवना कैसे हो सकती है? यह सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग है।

सम्यग्दृष्टि के उपरांत सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है वह भी सम्यग्दृष्टिपने की सूचना करता है, इससे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी छद्मस्थ जान सकता है—ऐसा सिद्ध हुआ।

अब, जहाँ परमार्थस्तुति हो तब क्या त्याग किया होता है—वह अब कहते हैं :—

(३) वावण्णा का अर्थ है व्यापन्नदर्शन, अर्थात् जिसे सम्यग्दर्शन था परन्तु वर्तमान में नाश हुआ है उसे छोड़ना; यह बोल भी सिद्ध करता है कि सम्यग्दृष्टि दूसरे का सम्यग्दर्शन छूट गया हो तो वह भी जान सकता है।

(४) कुदंसणवज्जणा—कुदर्शन का छोड़ना अर्थात् जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसे कुदर्शन (मिथ्यादर्शन, अर्थात् स्वरूप की भ्रमणा) छूट जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार सम्यक्त्व के लक्षण कहे; उनके द्वारा आप या पर सम्यग्दृष्टि है—ऐसा छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जान सकता है—ऐसा सिद्ध हुआ। सम्यग्दर्शन से रहित क्रिया 'करोतिक्रिया' है।

(५) दूसरी मान्यता ऐसी है कि–सामान्य मनुष्य आत्मा को नहीं समझ सकते, क्योंकि उसे समझना इस काल में दुर्घट है। यह मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। इस काल में मनुष्यभव, आर्य कुल, आर्य देश और वीतरागवाणी का योग प्रवर्तमान है तब आत्मा समझ में न आये ऐसा कहना मिथ्या है; इतना ही नहीं परन्तु वह मिथ्यात्व का पोषक है। जो जीव आत्मा को न समझता हो उसके वास्तव में वीतरागप्ररूपित सामायिक, प्रति–क्रमण, प्रत्याख्यान, तप होते ही नहीं, तब फिर वे क्रियाएँ संवर–निर्जरारूप हैं या नहीं—वह प्रश्न उसके लिये उठता ही नहीं। उस क्रिया का स्वरूप आगे बताया जायेगा। इस सम्बन्ध में श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में स्पष्टतया निम्नप्रकार कहा है :—

'कोई जीव तो ऐसा मानते हैं कि—जानने से क्या है, मानने से क्या है, कुछ करेंगे तो फल प्राप्त होगा; ऐसा विचार कर वे व्रत–तपादि क्रियाओं के ही उद्यमी रहते हैं परन्तु तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते। अब, तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादिक का आचरण भी मिथ्या चारित्र नाम ही प्राप्त करता है और तत्त्वज्ञान होने से कुछ भी व्रतादिक न हों तथापि वह असंयतसम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त करता है। इसलिये प्रथम तत्वज्ञान का उपाय करना चाहिये और पश्चात् कषाय को कम करना चाहिये। श्री योगीन्द्र–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव कृत श्रावकाचार में भी कहा है कि—'दंसणभूमिह बाहिरा जिय वयरुक्ख ण होंति'

अर्थः—हे जीव ! इस सम्यग्दर्शन भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता; अर्थात् जिन जीवों को तत्त्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं करते।' (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक—अधिकार ७ वाँ) विशेष चर्चा आगे के प्रकरण में है।

प्रकरण : १०

करोतिक्रिया : भाग—४

अध्यात्म उपदेश इस काल में देना ही चाहिये, उसके बिना सर्व क्रिया 'करोति क्रिया' है।

१:—यह काल निकृष्ट है इसलिये सामान्य जीवों को व्रत, प्रत्याख्यानादि का ही उपदेश देना योग्य है—ऐसा कहना भी योग्य नहीं है। इस विषय में श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में निम्नानुसार स्पष्टता की गई है:—

शंकाः—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है वह उत्कृष्ट है और वह उसी को कार्यकारी है जो उच्च दशा को प्राप्त हो; परन्तु निम्न (नीचे की) दशा वालों को तो व्रत-संयमादि का ही उपदेश देना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधानः—जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि–पहले सम्यक्त्व होता है और पश्चात् व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने से होता है, और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होता है और पश्चात् चरणानुयोग अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है; इसप्रकार मुख्यतया तो निम्नदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती दिखाई न दे उसे पहले किन्हीं व्रतादिक का उपदेश देने में आता है; इसलिये उच्च दशावाले को अध्यात्म उपदेश अभ्यास करने योग्य है—ऐसा जानकर निम्न दशावालों को वहाँ से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।

शंका:—उच्च उपदेश का स्वरूप निम्नदशावालों को भासित नहीं होता।

समाधानः—अन्य तो अनेक प्रकार की चतुराई जानता है और यहाँ मूर्खता प्रगट करता है वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप बराबर भासित होता है, तथा अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा बहुत भासित होता है, परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने की पुष्टि करना—यह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना जैसा है।

शंका:—यह काल निकृष्ट (नीचा) है इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म के उपदेश की मुख्यता करना योग्य नहीं है।

समाधानः—यह काल साक्षात् मोक्ष होने की अपेक्षा से निकृष्ट है, परन्तु आत्मानुभवन आदि के द्वारा सम्यक्त्वादि होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की इस काल में मनाई नहीं हैं, इसलिये आत्मानुभवनादि के अर्थ से द्रव्यानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। मोक्ष-पाहुड़ में कहा है कि आज भी त्रिरत्न द्वारा शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके स्वर्गलोक में या लौकांतिक में देवत्व प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर मनुष्य भव पाकर मोक्ष जाते हैं; इसलिये इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश मुख्यपनेसे आवश्यक है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ८)

इन्दौर से मुद्रित श्री अनुभवप्रकाश में भी उसी प्रकार निम्न शब्दों में पृष्ठ ५५ में बतलाया है:—

'कोई कहेगा आज के समय में निजस्वरूप की प्राप्ति कठिन है, बहिरात्मा तो परिग्रहवंत है, तिसतैं स्वरूप पावने की चाह मेटि! किन्तु; आजसौं अधिक परिग्रह चतुर्थ कालवर्ती महापुण्यवंत नर चक्रवर्ती आदिक तिनके था, सो इसकैं तो थोरा है, सो परिग्रह जोरावरी इसके परिणाम में न आवे है। यों ही दौरि दौरि परिग्रह-मैं घुसता है। जब निठला होय तब विकथा करे। तब स्वरूप के परिणाम करै तो कौन रोकै? परपरिणाम सुगम, निजपरिणाम विषम बतावै है। देखौ अचिरज की बात! स्वयं देखे है, जाने है, "देख्यो न जाय-जान्यो न जाय," ऐसे कहत लाज हू न आवै। संसार चातुरी कौं चतुर और आप जानिवेको शठ-ऐसौ हठधिठौही (धृष्टता) सौं पकरि २ पर-रत व्यसन में गाढ़ौ भयो।"

२:—कोई जीव कहता है कि:—'द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहार धर्म की हीनता प्रकट की है, सम्यग्दृष्टि के विषय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है; इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्दी बनकर पुण्य छोड़कर पाप में प्रवर्तन करेगा इससे पढ़ना –सुनना योग्य नहीं है।' उससे कहते हैं कि:—

'यदि मिश्री खाने से गधा मर जाये तो उससे कहीं मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ देते ? उसी प्रकार कोई विपरीत-बुद्धि जीव अध्यात्म ग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्दी हो जाये तो उससे कहीं विवेकी जीव तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ देते। हाँ, इतना करते हैं जिसे स्वच्छन्दी होता जानें, उसे जिससे वह स्वच्छन्दी न हो वैसा उपदेश देते हैं। और अध्यात्म ग्रन्थों में भी स्वच्छन्दी होने का जगह जगह निषेध किया जाता है; इससे जो उसे बराबर सुनता है वह स्वच्छन्दी नहीं होता, तथापि कोई एकाध बात सुनकर अपने अभिप्राय से स्वच्छन्दी हो तो वहाँ ग्रन्थ का तो दोष नहीं है किन्तु उस जीव का ही दोष है।'

और यदि झूठी दोषकल्पना द्वारा अध्यात्मशास्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध किया जाये तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहीं है अर्थात् उसका निषेध करने से मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे मेघवृष्टि होने से अनेक जीवों का कल्याण होता है, तथापि किसी को उल्टी हानि हो तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना ? वैसे ही सभा में अध्यात्म उपदेश होने से अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, तथापि कोई यदि उल्टा पाप में प्रवर्तमान हो जाये तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्म शास्त्रों का निषेध तो नहीं करना ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे, अध्यात्मग्रन्थों से कोई स्वच्छन्दी हो जाये वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था और आज भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। हाँ, इतनी ही हानि होगी कि उसे सुगति न होकर दुर्गति होती है।

पुनश्च, अध्यात्म उपदेश न होने से अनेक जीवों को मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है, इसलिये उससे तो अनेक जीवों का बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म-उपदेश का निषेध करना योग्य नहीं है। (देखो मोक्षमार्गप्रकाशक—द्रव्यानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण अ० ८)

३:—इसलिये सिद्ध होता है कि—

(१) सभा में अध्यात्म उपदेश देना; क्योंकि उससे अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

(२) निम्न दशावालों को अध्यात्म उपदेश का स्वरूप भासित नहीं होता—ऐसा कहना योग्य नहीं है। जो-जो मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए हैं वे सभी पहले निम्न दशा में थे, और वहाँ अध्यात्म उपदेश सुनने से मोक्षमार्ग प्राप्त किया है, इसलिये निम्नदशावालों के लिये धोरी मार्ग (राजमार्ग) एक ही है कि उपदेशक को अध्यात्म शास्त्रों का उपदेश सुनाना चाहिये।

(३) अभ्यास करने से जीव को स्वरूप बराबर भासित होता है, इसलिये जीव समझ नहीं सकता—ऐसी मिथ्या कल्पना करना, यह तो मूर्खता प्रगट करने जैसा है, जो कि योग्य नहीं है।

(४) सम्यक्त्वादि प्राप्त करने की अपेक्षा से यह काल हीन नहीं है, इसलिये आत्मानुभवनादि के लिये द्रव्यानुयोग का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्यास अवश्य करना चाहिये; क्योंकि उससे संसारचक्र टूटकर अल्प भव में सम्पूर्ण पवित्रता (मोक्ष) जीव प्राप्त करता है।

(५) यदि इस मनुष्यभव में वह कार्य न किया तो जीव की त्रस (दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय) अवस्था बहुत अल्पकाल की है, और एकेन्द्रिय अवस्था अत्यन्त दीर्घकाल की है, तो जीव मोक्ष-मार्ग कब प्राप्त करेगा ? इसलिये वह (मोक्षमार्ग) इस मनुष्यभव में ही प्राप्त कर लेना चाहिये—वही आत्मा का कल्याण है।

४:—सम्यग्दर्शन के बिना जीव की समस्त शुभाशुभ चैतन्य क्रिया बंध का कारण है, इससे वह 'करोतिक्रिया' है, उसके द्वारा कभी मोक्ष नहीं होता।

और कहा है कि—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेन विना न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन रहित पुरुष को सम्यग्ज्ञान नहीं होता; सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र का गुण नहीं होता; उस गुण रहित जीव को मोक्ष (पवित्रता) नहीं होता; जो भाव कर्म से मुक्त न हुआ हो उसे निर्वाण नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ११

मोक्ष को कतरनेवाली क्रिया कौनसी है ?

१:—मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये अनन्त ज्ञानिओं ने कौनसी क्रिया कही है उसे जानने की आवश्यकता है। वह जाने बिना 'क्रिया' से मोक्ष होता है—ऐसा मान लेना सो मिथ्यात्व है। ज्ञानी ज्ञानक्रिया का निषेध ही नहीं करते—यह पहले कहा जा चुका है। ज्ञानियों का कथन न समझनेवाले जीव 'ज्ञानक्रिया' का अर्थ नहीं समझते; इससे 'मोक्ष को कतरनेवाली क्रिया क्या है' वह समझाकर भगवान की कही हुई यथार्थ क्रिया का बराबर स्थापन किया जाता है। ज्ञानिओं ने मोक्ष को कतरने वाली कौनसी क्रिया कही है वह अब, यहाँ कही जाती है :—

२:—इस विषय में शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तररूप गाथा कहते हैं।

कोऊ शिष्य कहै स्वामी ! असुभ क्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी।
गुरु कहैं जबलौं क्रिया के परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी ॥
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होई,
याते दोउ क्रिया, मोख-पंथ की कतरनी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंध की करैया दोऊ, दुहू में न भली कोऊ,
बाधक विचारि, मैं निसिद्ध कीनी करनी ॥१२॥
(समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्व द्वार)

अर्थ:—कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी आपने अशुभ क्रिया को अशुद्ध और शुभ क्रिया को शुद्ध क्यों नहीं कहा ?

श्रीगुरु कहते हैं कि—जबतक क्रिया के परिणाम रहते हैं तबतक उपयोग और योग चंचल रहते हैं, और जबतक उपयोग स्व-स्वरूप में स्थिर न हो तबतक शुद्ध अनुभव नहीं होता; इसलिये यह शुभ-अशुभ दोनों क्रियाएँ मोक्षमार्ग को काटनेवाली हैं; दोनों बंध की क्रियाएँ हैं; दोनों में एक भी भली नहीं है, दोनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं—ऐसा विचार कर मैंने उन दोनों क्रियाओं का निषेध किया है।

मोक्षमार्ग में क्रिया का निषेध

(दोहा)

करनी हित हरनी सदा, मुक्ति वितरनी नांहि ।
गनी बंधपद्धति विषै, सनी महादुःखमांहि ॥९६॥
(समयसार नाटक सर्व विशुद्धि द्वार)

अर्थ:—करनी सदा हित का नाश करनेवाली है, मुक्ति देनेवाली नहीं है; करनी बंध पद्धति में गिनी जाती है और वह महा दुःख से लिप्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(शुभाशुभ चैतन्य क्रिया, मैं परका कर सकता हूँ, हाथ-पैर शरीर चला सकता हूँ, पुण्य से मुझे लाभ होता है—इत्यादि भावों को यहाँ करनी कहा है।)

आत्मा की विकारी क्रिया का स्वरूप।

(सवैया इकतीसा)

करनी की धरनी में महा मोह राजा बसै,
करनी अग्यान भाव राक्सि की पुरी है।
करनी करम काया पुग्गल की प्रतिछाया,
करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है॥
करनी के जल में उरझि रह्यो चिदानन्द,
करनी की वोट ग्यान भान दुति दुरी है।
आचारज कहै करनी सौं विवहारी जीव,
करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है॥९७॥

(समयसार नाटक सर्व विशुद्धि द्वार)

अर्थः—क्रिया की भूमि में महामोह राजा वास करता है, क्रिया अज्ञानभावरूप राक्षस की नगरी है, क्रियाकर्म और शरीरादि पुद्गल की मूर्ति है, क्रिया साक्षात् मायारूप मिश्री लपेटी हुई छुरी है, क्रिया के जाल में चिदानन्द आत्मा फँस रहा है, क्रिया की आड़ में ज्ञानसूर्य का प्रकाश ढँक गया है; श्री आचार्यदेव कहते हैं कि:—क्रिया से जीव व्यवहारी (संसारी) है, यथार्थ स्वरूप से देखने पर क्रिया सदैव बुरी है। (यह आत्मा की बुरी क्रिया का स्वरूप है)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूढ क्रिया तथा विचिक्षण क्रिया का स्वरूप

(सवैया इकतीसा)

जैसें मतवारो कोऊ कहै और, करै और,
तैसें मूढ प्रानी विपरीतता धरतु है ।
असुभ करम बंध कारन बखानै माने,
मुक्ति के हेतु सुभ-रीति आचरतु है ।।
अंतर सुदृष्टि भई मूढता बिसर गई,
ग्यान कौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है ।
करनी सौं भिन्न रहै आतम-सुरूप गहै,
अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है ।।१६।।

(समयसार नाटक—पुण्यपाप-एकत्वद्वार)

अर्थः— जैसे कोई शराबी (पागल) मनुष्य कहता कुछ है और करता कुछ है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत भाव रखता है। वह अशुभ कर्म को बंध का कारण कहता है और मानता है, और शुभ भाव को मोक्ष के कारणरूप से आचरण करते हैं; परन्तु जब सच्ची अन्तरदृष्टि होती है तब मूढ़ता (अज्ञान) नष्ट हो जाती है. ज्ञान का प्रकाश भ्रमणारूप अंधकार का नाश करता है, करनीसे भिन्न रहकर आत्मस्वरूपको ग्रहण करता है, और अनुभव धारण करके परम रस में आनन्द करता है ।। १६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३:—उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है कि 'शुद्धात्म अनुभव क्रिया' के अतिरिक्त चैतन्य की सर्व क्रियाएँ अशुद्ध हैं, इससे वे मोक्ष की क्रियाएँ नहीं हैं, परन्तु वे क्रियाएँ मोक्ष को काटनेवाली हैं, उनका फल ससार है अर्थात् दु:ख है और वह त्याज्य है—हेय है।

४:—शरीर की क्रिया से जीव को मोक्ष या बंध नहीं हो सकता। शरीर पर द्रव्य है वह अनन्त परमाणुओं का स्थूल स्कन्ध है। प्रत्येक द्रव्य क्रियासम्पन्न है और स्वयं परिणामी है, जीव वह नहीं कर सकता; तथापि मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ; यह मान्यता मिथ्या होने से उसका निमित्त पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है। जब पुद्गल शरीर या परद्रव्य, जो अपने को अनुकूल लगे वैसे परिणमित होते हैं तब मिथ्यामान्यतावाला जीव हर्ष करता है, और अपने को प्रतिकूल लगे, वैसे परिणमित होते हैं तब शोक करता है; यह दोनों राग-द्वेषरूप क्रिया है। शरीर या पर द्रव्य में जीव को अनुकूलता या प्रतिकूलता कुछ है ही नहीं, मात्र अज्ञानी जीव वैसी कल्पना करता है, इससे वह बंधभाव है, उसे कर्मभाव भी कहते हैं।

५:—इस सम्बन्ध में श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में कहा है कि:—

कर्मभाव अज्ञान है, मोक्षभाव निजवास;
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥९८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—मैं परका कर सकता हूँ, यह भाव जीव का अज्ञान है, जीव का निज में (अपने में) वास (स्थिरता) वह मोक्षभाव है। अज्ञानभाव अंधकार जैसा है, जिसप्रकार प्रकाश होने से अंधकार का नाश होता है उसीप्रकार ज्ञानप्रकाश होने से अज्ञान अंधकार नाश को प्राप्त होता है ॥६८॥

इसप्रकार सिद्ध हुआ कि "शुद्धात्मअनुभव क्रिया" के अतिरिक्त चैतन्य की सर्व क्रियाओं का फल संसार है।

प्रकरण : १२

सामायिक का स्वरूप समझे बिना की हुई सामायिक क्रिया का फल

१ः—तब प्रश्न उठता है कि, आत्मस्वरूप को जाने बिना, सामायिक का पाठ बोलकर जो सामायिक-क्रिया का करना मानते हैं उसका क्या फल है ?

उत्तरः—सामायिक तो राग-द्वेष रहित साम्यभाव होने से होती है, परन्तु पाठमात्र पढ़ने से या उठ-बैठ करने से तो सामायिक नहीं होता। कदाचित् कोई कहे कि, 'अन्य कार्य करते, उसकी अपेक्षा तो अच्छा है ?' यह सत्य है, परन्तु सामायिकपाठ में प्रतिज्ञा तो ऐसी करता है कि, 'मन, वचन, काय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से सावद्य को करूंगा नहीं, कराऊँगा नहीं।' अब, मनमें तो विकल्प होता ही रहता है, तथा वचन, काया में भी कदाचित् अन्यथा प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रतिज्ञा भंग होती है। प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा तो न करना ही अच्छा है, क्योंकि प्रतिज्ञा भंग करना यह महापाप है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

२:—दो मनुष्यों को लें, उनमें एक प्रतिज्ञा नहीं करता किन्तु अपनी मातृ भाषा में पाठ पढ़ता है और उसका अर्थ जानकर उसमें उपयोग रखता है; जब कि दूसरा मनुष्य प्रतिज्ञा करके उसे बराबर पालन नहीं करता, प्राकृतादि भाषा के पाठ बोलता है, परन्तु उनके अर्थ का उसे ज्ञान नहीं है, और अर्थ जाने बिना उपयोग वहाँ नहीं रहता, वह अन्य स्थानों में भटकता है, इससे प्रतिज्ञा भंग होती है; अब इन दोनों मनुष्यों में धर्मात्मा कौन है ?

उत्तर:—यदि पहले को धर्मात्मा कहोगे तो आप ऐसा ही उपदेश क्यों नहीं करते ? और आप स्वयं वैसा क्यों नहीं करते ? यदि दूसरे को कहोगे तो प्रतिज्ञा भंग में पाप नहीं हुआ ? अथवा परिणाम अनुसार धर्मात्मापना सिद्ध नहीं हुआ परन्तु पाठ इत्यादि बोलने या सुनने के अनुसार धर्मीपना सिद्ध हुआ।

३:—प्रश्न:— तब फिर हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तर:—आत्मा के स्वरूप को यथार्थ समझना चाहिये, और जिस प्रकार अपना उपयोग निर्मल हो वह करना, जो साधी जा सके वह प्रतिज्ञा करना, तथा जिसका अर्थ जानते हैं वह पाठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पढ़ना; परन्तु पद्धति द्वारा (रूढिगत रूप) सामायिक करके ऐसा 'नाम' रखाने में लाभ नहीं है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

४:—अनन्त ज्ञानियों द्वारा कहा हुआ सामायिकव्रत तो सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् ही होता है; क्योंकि जो जीव आत्मा का स्वरूप यथार्थ नहीं जानता उसे 'सच्चा अणुव्रत' होता ही नहीं; इसलिये प्रथम सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रकरण ९ के पहले पैरे में भी यह बताया गया है।

५:—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये प्रथम क्या करना चाहिये ? वह आगे कहा जायेगा। यहाँ तो सामायिक के विषय की बात कही है। जो जीव सामायिक का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, किन्तु उपरोक्तानुसार क्रिया करता है वह 'धर्म' नहीं करता, तथापि आप 'धर्म' करता है—ऐसा मानता है वह जीव मिथ्यात्व की पुष्टि करता है—ऐसा विचारवान जीव को ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा। अज्ञानी को व्यवहार धर्म भी नहीं होता किन्तु उसे 'व्यवहाराभास सामायिक' अथवा 'नाम सामायिक' या 'कुसामायिक' कही है।

प्रकरण : १२

सच्ची सामायिक क्रिया का स्वरूप

१:—तब फिर सच्ची सामायिक क्रिया क्या है, उसका स्वरूप जानने की आवश्यक्ता है, इससे वह यहाँ कही जाती है:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२:—सामायिक के प्रकार तीन हैं। (१) निश्चय सामायिक, (२) व्यवहार सामायिक (३) व्यवहाराभास सामायिक; उसमें से तीसरे प्रकार की सामायिक के सम्बन्ध में पहले के प्रकरण में कहा गया है; उसे 'नामसामायिक' भी कहा जा सकता है, इसलिये पहली दो सामायिकों के विषय में यहाँ विचार करते हैं।

३:—'सामायिक' शब्द तीन पदों का बना हुआ है, वह इस प्रकार है:—सम+आय+इक।

सम=राग-द्वेष रहित साम्यभाव

आय=लाभ और

इक=वाला अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का भाव भासन सहित और विपरीत अभिप्राय तथा राग-द्वेषरहित साम्यभाव का जीव को लाभ होना वह। प्रकरण-६ में जो क्रिया कही गई है वह सामायिक क्रिया है। मोक्ष के कारणभूत जो सामायिक कही गई है उसका स्वरूप निम्नप्रकार है:—

जो सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थभूत ज्ञान के भवन (परिणमन) मात्र है वह मोक्ष के कारणभूत है।

४:—ऊपर जो व्याख्या दी है वह 'निश्चय सामायिक' है, पाँचवें गुणस्थान में प्रवर्तमान श्रावक जिस समय अपने शुद्धज्ञान में निर्विकल्परूप से स्थिर होता है उस स्थिरता को अपने योग्य 'निश्चय सामायिक' कहा जाता है। जिस समय वह श्रावक अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकता उस समय अपना भाव अशुभ में न जाये उसका विवेक रखता है और इससे उसका पुरुषार्थ राग-द्वेष तोड़ने की ओर जाता है, उसमें अशुभ दूर होता है और शुभ रह जाता है। श्रावक के व्रत में एक 'सामायिक व्रत' है, वह व्रत दो घड़ी अपने उपयोग में निर्मलता लाने का जो प्रयास करता है वह है; वह शुभोपयोगरूप है। वह 'व्यवहार सामायिक' है क्योंकि वह निश्चय के लक्ष पूर्वक है। यह शुभोपयोग तो राग है और शुभ राग भी आस्रव होने से बंधक है। परन्तु उस समय राग और शुभोपयोग के निषेध की जो दृढ़ता है उससे शुद्धि बढ़ती है, वह शुद्धि संवर और निर्जरारूप है। व्रत स्वयं संवर या निर्जरारूप नहीं है, वह तो धर्मी को भी आस्रव अर्थात् पुण्य बंध रूप है।

५:—प्रश्नः—कितने ही लोग हिंसादिक सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानते हैं। महाव्रतादिरूप शुभोपयोग को उपादेयपने से ग्रहणरूप मानते हैं, तो वह सच्चा चारित्र है?

उत्तरः—नहीं; (तत्वार्थसूत्र जो कि सर्व जैनों को मान्य है) उसमें आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है, तो वह उपादेय किसप्रकार होगा? आस्रव तो बंध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है, इससे इन महाव्रतादिरूप आस्रव भावों को चारित्रपना संभव नहीं हैं; परन्तु सर्व कषायरहित उदासीन भाव है उसी का नाम चारित्र है। चारित्रमोह के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से जो महामंद प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्र का मल है, और उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं छूटता जानकर उसका त्याग नहीं करते और सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं; परन्तु जिसप्रकार कोई पुरुष कंद-मूलादि अधिक दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है, तथा कोई हरित-काय का भक्षण करता है, परन्तु हरितकाय के भक्षण को वह धर्म नहीं मानता। उसी प्रकार मुनि या श्रावक हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रत-अणुव्रतादि को पालते हैं परन्तु वे मन्दकषायरूप व्रतादि को मोक्षमार्ग नहीं मानते। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि मुनि या श्रावक को एक ही काल में ऐसा भाव होता है कि जिससे उसे संवर-निर्जरा भी होते हैं, और बंध भी होता है, वह किस प्रकार है?

उत्तरः—यह भाव मिश्ररूप है, कुछ भाव वीतराग हुए हैं और कुछ सराग हुए हैं; वहाँ जो अंश वीतराग हुआ है, तथा उसमें वृद्धि होती जाती है उसके द्वारा तो संवर-निर्जरा ही है और जो अंश सराग रहा है उसके द्वारा बंध है; अब, एक मिश्रभाव से दो कार्य तो होते हैं परन्तु एक प्रशस्त राग से ही पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना—यह भ्रम है। मिश्रभाव में यह सरागता है और यह वीतरागता है—ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि को ही होती है; इससे वह अवशेष सरागभाव को हेयरूप मानता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि को ऐसी पहिचान नहीं है इससे वह सराग-भाव में संवर-निर्जरा के भ्रम से प्रशस्त रागरूप कार्यों को उपादेय-रूप मानता है (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः-ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में इन महाव्रतादि को क्यों कहा है ?

उत्तरः—वहाँ उसे व्यवहार चारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचार का है। यह महाव्रतादिक होते ही उससमय जो वीतरागता में पुरुषार्थ द्वारा वीतराग चारित्र होता है वह उपचार-सम्बन्ध जानकर इन महाव्रतादिक में चारित्र का उपचार किया है. परन्तु निश्चय से तो जितना निष्कषाय भाव हुआ है वही सच्चा चारित्र है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

अणुव्रत हुए बिना देशचारित्र नहीं होता और महाव्रत धारण किए बिना कभी सकल चारित्र नहीं होता इसलिये इन व्रतों को अन्वय रूप जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके उसे चारित्र कहा है; परन्तु वह निश्चय चारित्र नहीं है। (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

यदि निरतिचार महाव्रत को निश्चय चारित्र कहोगे तो वैसे मुनि को बंध कैसे हो ? बंध तो राग से ही होता है, और सम्यग्दृष्टि मुनि को निरतिचार महाव्रत होने पर भी बंध होता है, इसलिये महाव्रत मंदकषायरूप राग है—ऐसा सिद्ध होता है।

अज्ञानी के व्रतों को तो ज्ञानी व्रत कहते ही नहीं; उन्हें तो 'बालव्रत' अर्थात् अज्ञान-व्रत ही कहते हैं, क्योंकि व्रत तो पाँचवें गुणस्थान से ही प्रारम्भ होते हैं। अज्ञानी जन शुभ भाव रखे तो उससे पुण्यबंध होता है परन्तु उससे संसार का नाश नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : १४

कुप्रतिक्रमण और सुप्रतिक्रमण का स्वरूप

१:—बारहवें प्रकरण में कुसामायिक के लिये जो कहा गया है वह यहाँ कुप्रतिक्रमण को लागू होता है, और जो सच्ची सामायिक के लिये कहा है वह सुप्रतिक्रमण को लागू होता है।

२:—प्रतिक्रमण नाम पूर्व दोष के निराकरण करने का है। अब, 'मिच्छामि दुष्कृतं', इतना कहने मात्र से तो दुष्कृत मिथ्या नहीं होता, परन्तु मिथ्यात्व तथा अव्रत रहित आंशिक परिणाम होते ही 'दुष्कृत' मिथ्या होता है, इसलिये मात्र पाठ ही कार्यकारी नहीं है। और प्रतिक्रमण के पाठ में तो ऐसा अर्थ है कि बारह व्रतादि में जो दुष्कृत लगे हों वे मिथ्या हो जायें, परन्तु व्रत धारण किये बिना ही उनका प्रतिक्रमण करना कैसे सम्भव है? जिसके उपवास न हो वह उपवास में लगे हुए दोष का निराकरण करे तो वह असंभव जानना, इससे यह पाठ पढ़ना किसी प्रकार योग्य नहीं है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७)

३:—यह पाठ ही सिद्ध करता है कि जो सम्यग्दृष्टि हुआ हो और दो जातिके कषायों से रहित जिसने व्रत धारण किये हों और उनमें अतिचार लगा हो उसी को लागू पड़ता है, किंतु दूसरों को नहीं; क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा व्रत के अतिचारों का प्रतिक्रमण आता है।

४:—निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप निम्नानुसार है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तर विशेषं ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥३८३॥

शुभ वा अशुभ अनेकविध, पूर्वे किये जो कर्म वे ।
उससे निवर्ते आत्मको, वो आतमा प्रतिक्रमण है ॥३८३॥

(समयसार)

निश्चय से विचार करने से तो, जो आत्मा तीनों काल के कर्मों से अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है, और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। ऐसे प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यान स्वरूप, और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरंतर अनुभवन ही निश्चय-चारित्र है। जो यह निश्चय चारित्र है वही ज्ञान चेतना (ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञान-चेतना से (ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है। (देखो, समयसार गाथा ३८५-३८६ का भावार्थ)

५:—प्रश्न:—यदि आप ऐसा कहोगे या प्ररूपण करोगे तो इस समय लोग जो सामायिक करते हैं वह भी छोड़ देंगे ?

उत्तर:—यह कथन अन्यायी है। सत् प्ररूपणा से लोगों को लाभ होता हैं या असत् प्ररूपणा से ? यह स्वरूप सुनेगा उसे सच्चा समझने की रुचि होगी और अपने दोषों को दूर करेगा। फिर, इस समय होनेवाले सामायिक और प्रतिक्रमण का स्वरूप ऊपर दर्शाया है और यह बताया है कि वह सामायिक-प्रतिक्रमण है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही नहीं। सच्चा समझनेवाला पुण्य को छोड़कर पाप करेगा—ऐसा मानना भी अन्याय है; सच्चा समझनेवाला कभी पाप करेगा ही नहीं; क्योंकि वह तो अशुभभाव है। ज्ञानी तो पुण्य को भी छोड़कर पुण्य-पापरहित होगा, और वैसा न हो सके वहाँ तक वह पुण्य भाव में आयेगा, परन्तु उसे कभी धर्म नहीं मानेगा; और इससे वह छोड़ने योग्य भाव है—ऐसा वह समझेगा। इसलिए जबतक सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण वीतराग नहीं होगा, तबतक पाप छोड़कर पुण्यभाव में आयेगा और उससे सत्पुण्य बंध करेगा; परन्तु वह पुण्य आत्मा को लाभदायक है या आत्मा का स्वरूप है—ऐसा कभी नहीं मानेगा।

प्रकरण : १५

सच्चा प्रत्याख्यान क्या है ?

१:— सच्चे प्रत्याख्यान का स्वरूप निम्नानुसार है:—

कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मात् निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ।।३८४

(समयसार)

अर्थ:—भविष्यकाल का जो शुभाशुभ कर्म है वह जिस भाव में बँधता है उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका:—वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्म को (भविष्यकाल के कर्म को) प्रत्याख्यान (–त्याग) करता हुआ प्रत्याख्यान है, वही आत्मा वर्तमान कर्म विपाक को अपने से अत्यंत भेदरूप पूर्वक अनुभव करता हुआ आलोचना है। उसीप्रकार वह आत्मा सदैव प्रत्याख्यान करता हुआ उत्तर कर्म के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ वर्तमान कर्म विपाक को अपने से अत्यन्त भेदरूप जानता हुआ अपने में ही—ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर विचरण (–आचरण) करता होने से चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है) और चारित्रस्वरूप प्रवर्तमान होता हुआ अपने को—ज्ञानमात्र को चेतता (अनुभवता) होने से वह आत्मा आप ही ज्ञानचेतना है; ऐसा भाव (आशय) है।

२:—जो ऊपर कहा है वह निश्चयप्रत्याख्यान का स्वरूप है, वह सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् जो जीव सम्यग्चारित्र में स्थिर हो, उसी को होता है, मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होता। यह अज्ञानी जीव सद्गुरु का उपदेश सुनकर प्रतिबुद्ध होता है और साक्षात् दृष्टा (देखनेवाला) ऐसा अपने को अपने से ही जानकर, श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ जब पूछता है कि 'इस आत्मा को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) है वह क्या है?

तब आचार्य उसे निम्नानुसार कहते हैं:—

सव्वे भावे जह्मा पच्चक्खाई परेत्तिणादूणं ।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब भावको पर जानकर पच्चखाण भावों का करे,
उससे नियम से जाणना कि–ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४

अर्थ:—जिससे 'अपने से अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं' ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है; उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा नियम से जानना चाहिये। अपने ज्ञान में त्याग-रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

टीका:—यह भगवान ज्ञाता द्रव्य (आत्मा) है, वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होने वाले अन्य समस्त परभावों को, वे अपने स्वभाव द्वारा व्याप्त न होने से, उन्हें पररूप जानकर त्यागता है; इससे जो पहले जानता है वही त्यागता है, दूसरा तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है—ऐसा आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (–त्याग के) समय प्रत्याख्यान करने योग्य जो परभाव हैं उनकी उपाधिमात्र से प्रवर्तित हुए त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग–कर्तापने का नाम अपनेको नहीं हैं, आप तो इस नाम से रहित है, क्योंकि आप ज्ञानस्वभाव से छूटा हुआ नहीं है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है–ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ:—आत्मा को परभावों के त्याग का कर्तृत्व है वह नाममात्र है, आप तो ज्ञानस्वभाव है। पर द्रव्य को पर जाना पश्चात् परभावों का ग्रहण नहीं वही त्याग है। इसप्रकार, स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव नहीं। (देखो समयसार गाथा ३४)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३:—आत्मा जब अपने ज्ञान में तन्मय होता है तब उसका परवस्तु की ओर लक्ष जाता ही नहीं; इससे ज्ञान की स्थिरता को और परवस्तु को ऐसा निमित्त–नैमित्तिक भाव है कि जिस परवस्तु का राग ज्ञानी के टूट गया उस वस्तु का संयोग स्वयं दूर हो जाता है। ऐसा भाव ही यथार्थ प्रत्याख्यान है, इससे जहाँ ऐसा भाव हो वहाँ परवस्तु का संयोग जो नहीं होता, उसे व्यवहार भाषा में परवस्तु का त्याग कहा जाता है। वास्तव में परवस्तु कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गई है कि उसका त्याग हो सके, परन्तु परवस्तु के ऊपर का राग और अवलम्बन जब जीव तोड़ता है तब परवस्तु का संयोग सहज ही रुक जाता है।

४:—जीव के शुद्ध अवस्था में पर की ओर का राग दूर हो जाने से उसका संयोग सहज ही रुक जाता है और अशुद्ध अवस्था में परवस्तु के प्रति राग–द्वेष होने से उसका संयोग अधिकांश रहता है; ऐसा वस्तुओं का एक दूसरे के साथ सहज संबंध है। वास्तव में आत्मा अपनी शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता; यह नियम श्री समय-सार में निम्नानुसार दिया है:—

ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्व्वं,
सो को वि य तस्स गुणो पाउग्गिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥

अर्थ:—जो पर द्रव्य है उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता और न उसका त्याग ही किया जा सकता है,—ऐसा ही कोई उसका (आत्मा का) प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका:—ज्ञान परद्रव्य को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता और छोड़ता नहीं है; क्योंकि प्रायोगिक (परनिमित्त से हुए गुण के सामर्थ्य से और वैस्रसिक (स्वाभाविक) गुण के सामर्थ्य से ज्ञान द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना और छोड़ना अशक्य है। (यहाँ 'ज्ञान' कहने से आत्मा समझना चाहिये।) देखो, समयसार गाथा ४०६)

५:—सम्यग्दृष्टि को प्रत्याख्यान का विकल्प आता है अर्थात् जब वह शुद्धोपयोग में न हो तब प्रत्याख्यान (त्याग) का विकल्प आता है, उस विकल्प को द्रव्य–प्रत्याख्यान अथवा व्यवहार प्रत्याख्यान कहा जाता है। उस विकल्पसे बंध होता है क्योंकि वह राग है। उस विकल्प के पीछे विकल्पके स्वामित्व के अस्वीकार से दृढ़तापूर्वक (पुरुषार्थ द्वारा) जितना राग दूर होता है वह संवर निर्जरा का कारण है, और उसे निश्चय–प्रत्याख्यान कहा जा सकता है। मिथ्यादृष्टि तो ऐसा मानता है कि परवस्तु को मैं ग्रहण कर सकता हूँ और मैं त्याग सकता हूँ; वह मिथ्यादर्शन है और उसका फल पाप का बंध है। उस मिथ्या मान्यता पूर्वक पर वस्तु को त्यागने का जो विकल्प करता है उस समय यदि वह मंदकषाय करे तो उसे समस्त घाति कर्मों के उपरांत अघातिकर्म में पुण्य का बंध होता है, परन्तु उससे उसके संसार का अन्त नहीं होता। इस कारण उसके उस प्रत्याख्यान भाव को दुःप्रत्याख्यान कहा जाता है, उसे यथार्थ प्रत्याख्यान नहीं होता। जो जीव ऐसा मंदकषाय पूर्वक पर वस्तु को छोड़ने का विकल्प भी नहीं करता वह तो अशुभ भाव करता होने से समस्त घातिकर्म (जो कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है) उसके उपरान्त अघातिकर्मों में भी पाप का बंध करता है। सम्यग्दृष्टिपना होने से चौथे गुणस्थानसे शुद्धोपयोग की कणिका जागृत होती है इससे जितने अंश में शुद्ध उपयोग होता है उतने अंश में घाति और अघाति कर्म नहीं बँधते और वह शुद्धोपयोग की कणिका बढ़ते-बढ़ते जब पूर्णता होती हैं तब केवलज्ञान होता है और अन्त में आत्म प्रदेशों के कम्पन से होनेवाला आस्रव भी रुकने पर वर्तमान दशा में साक्षात् संपूर्ण सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

प्रकरण : १६

सच्चा (सम्यक्-सत्) तप क्या है ?

१:—निर्मल निज निश्चय परमात्मद्रव्य के आलंबन के बल द्वारा शुभाशुभ भावों को रोकना अर्थात् शुभाशुभ इच्छाओं को रोकना वह तप है। और उस तप के द्वारा निर्जरा होती है।

२:—स्वरूपस्थिरता के प्रकाश से ज्ञान का तपन (दैदीप्यमान होना) सो तप है।

(१) 'इच्छा निरोधस्तपः' (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७)

(२) 'स्वरूपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनात् तपः' (प्रवचनसार गाथा १४ की संस्कृत टीका)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२:—(शास्त्र में बारह प्रकार के तप कहे हैं वे निमित्त अथवा विकल्प की अपेक्षा से कहे हैं) वह कहीं स्वयं तप नहीं है। धर्मबुद्धिसे उपवासादि तो करे परन्तु वहाँ उपयोग तो शुभ-अशुभ या शुद्धरूप जैसा परिणमित हो वैसा ही परिणामे। उसमें यदि शुद्ध-रूप परिणमित हो तो तप कहलाता है और निर्जरा होती है। बहुत उपवासादि करने से अधिक निर्जरा होती है और थोड़े करने से कम निर्जरा होती है—ऐसा ही यदि नियम सिद्ध हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही सिद्ध हो, परन्तु ऐसा तो नहीं होता; कारण परिणाम दुष्ट होते उपवासादि करने पर भी निर्जरा का कैसे संभव है ? यहाँ पर यदि ऐसा कहोगे कि 'जैसा अशुभ-शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो उसी के अनुसार बंध-निर्जरा है' तो उपवासादि तप निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ? वहाँ तो अशुभ-शुभ परिणाम बंध के कारण और शुद्ध परिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुए। (देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ७ वाँ)

३:—प्रश्नः—कोई कहे कि 'आप ऐसा कहोगे तो हम उपवासादि नहीं करेंगे !'

उत्तरः—उपदेश तो ऊपर चढ़ने के लिये दिया जाता है, परन्तु तू उलटा नीचे गिरे तो वहाँ कोई क्या करे ? वह तो तेरा ही दोष है। यदि तू मानादिक से उपवासादिक करता है, तो कर-अथवा न कर, परन्तु उससे कहीं सिद्धि नहीं है। परन्तु यदि (स्वसन्मुखता सहित-) धर्मबुद्धि से आहारादिक का अनुराग छोड़ता है तो जितना राग दूर हुआ उतना ही हुआ, किन्तु उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को तप जानकर—उससे निर्जरा मानकर संतुष्ट न हो। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ वाँ)

४:—अंतरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्यतपवत् ही जानना चाहिये; जैसी अनशनादि बाह्य क्रियाएँ हैं वैसी यह भी बाह्य क्रियाएँ हैं; इससे प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं हैं। परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होते सम्यग्दृष्टि को जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता होती है उसका नाम अंतरंग तप जानना, और वहाँ तो निर्जरा ही है, बंध नहीं होता। और यदि शुद्धता का अल्प भी अंश रहे तो जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है, तथा जितना शुभ भाव है उससे तो बंध है, और जहाँ ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है वहाँ बंध और निर्जरा दोनों होते हैं। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)

५:—इस प्रकरण के पैरा नं० १ में जो तप कहा है, वह ऊपर कहे अनुसार हो तभी सच्चा तप है। अज्ञानी का तप बालतप कहा गया है और बालतप से कभी निर्जरा नहीं है और इससे वह धर्म नहीं है। अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा कहा है ऐसा जानना और उसी से उसे व्यवहार तप कहा है, व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है। और ऐसे साधन से ऐसी ही वीतराग भावरूप विशुद्धता हो वही सच्चा तप निर्जरा का कारण जानना। अनशनादि और प्रायश्चितादि को तप कहा है उसका कारण, अनशनादि साधन से प्रायश्चितरूप प्रवर्तमान हो तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीतराग भावरूप सत्य तप का पोषण हो सकता है, इससे उन अनशनादि को और प्रायश्चितादि को उपचार से तप कहा है; परन्तु कोई वीतराग भावरूप तप को न जाने और उसी को (शुभ प्रायश्चितादि को) तप जानकर संग्रह करे तो वह संसार में ही भ्रमण करता है। इतना समझ लेना चाहिये कि निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, तथा अन्य नाना प्रकार के भेद बाह्य साधन की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं, उसे व्यवहार मात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को जो नहीं जानता उसे निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ वाँ)।

प्रकरण : १७

सच्ची (सम्यक्) गुप्ति-समिति क्या है ?

१:—मन, वचन, काया की बाह्य चेष्टा को मिटाये, पाप चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमन आदि न करे उसे मिथ्यादृष्टि गुप्ति मानते हैं। मन में तो भक्ति आदिरूप प्रशस्त रागादि, नाना प्रकार के विकल्प होते हैं और वचन-काया की चेष्टा को रोक रखता है, परन्तु यह तो शुभ प्रवृत्ति है; प्रवृत्ति में गुप्तिपना नहीं बन सकता।

२:—अंशतः वीतराग भाव होने से जहाँ मन, वचन, काया की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३:—पर जीवों की रक्षा के लिये, यत्नाचार प्रवृत्ति को मिथ्यादृष्टि समिति मानते हैं, परन्तु हिंसा के परिणामों से पाप होता है, तथा रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्य बंध का कारण कौन सिद्ध होगा ? एषणा समिति में दोष दूर करते हैं वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है इसलिये रक्षा के अर्थ से ही समिति नहीं है।

४:—प्रश्नः—तो समिति किस प्रकार है ?

उत्तर:—मुनि को किंचित् राग होने से गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभाव से प्रमाद-रूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपने गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इससे उनसे स्वयं दया का पालन होता है; इस प्रकार सच्ची समिति है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७)

५:—सम्यक् (सत्) गुप्ति और सम्यक् (सत्) समिति का स्वरूप उपरोक्तानुसार जानना।

प्रकरण : १८

धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय का स्वरूप क्या है ?

—धर्म—

१:—मिथ्यादृष्टि बंधादिक के भय से और स्वर्ग–मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करता, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिप्राय तो दूर नहीं हुआ है। जिसप्रकार कोई राजादि के भ से अथवा महन्तपने के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता, तो उ त्यागी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह भी क्रोधादि क त्यागी नहीं है।

२:—प्रश्नः—तो त्यागी किस प्रकार होता है ?

उत्तर:—पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने से क्रोधादि होत हैं; जब तत्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है।

—अनुप्रेक्षा—

३:—अनित्यादि के चिंतवन से शरीरादि को बुरा जानकर हितकारी न जानकर उनसे उदास होना, उसका नाम मिथ्यादृ अनुप्रेक्षा कहते हैं। परन्तु यह तो, जिसप्रकार पहले कोई मित्र थ तब उससे राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उदासीन होगया वैसे ही पहले शरीरादि से राग था परन्तु फिर उनके अनित्यतादि अवगुणों को देखकर उदासीन हो गया, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है; जहाँ जैसा अपना अथवा शरीरादि का स्वभाव है वैसा जानकर, भ्रम छोड़कर उन्हें भला जानकर राग न करना और बुरा जानकर द्वेष न करना,—ऐसी सच्ची उदासीनता के अर्थ अनित्यतादि का यथार्थ चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

—परिषह जय—

४:—क्षुधादिक लगने पर उनके नाश का उपाय न करना उसे मिथ्यादृष्टि परिषह-सहनता कहते हैं। उपाय तो नहीं किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दुःखी हुआ तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ, यह तो दुःख-सुखरूप परिणाम हैं और वही आर्त-रौद्रध्यान है, ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो ?

५:—प्रश्नः—फिर कैसे भावों से संवर होगा ?

उत्तरः—दुःख के कारण मिलने से दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, परन्तु ज्ञेयरूप से उनका ज्ञाता ही रहे—यही सच्चा परिषहजय है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७)

प्रकरण : १६

भक्ति का स्वरूप

१:—कोई जीव भक्ति को मोक्षका कारण जानकर उसमें अति अनुरागी होकर प्रवर्तन करता है, परन्तु वह तो दूसरों की भाँति भक्ति से मुक्ति मानता है, वैसा ही इसका भी श्रद्धान हुआ। भक्ति तो रागरूप है और राग से बंध है, इसलिये वह मोक्ष का कारण नहीं है। राग का उदय आने से जो भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभ राग छोड़ने के अर्थ से ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तन करता है और मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्त मात्र भी जानता है, परन्तु वहीं उपादेयता मानकर संतुष्ट नहीं होता, किन्तु शुद्धोपयोग का उद्यमी रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२:—श्री पंचास्तिकाय की गाथा १३६ की टीका में कहा है कि:—

'अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवल भक्तिप्राधान्यस्या-ऽज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थान-राग निषेधार्थं तीव्रराग-ज्वरविनादार्थं वा कदाचिज्ज्ञानि-नोऽपि भवतीति।'

अर्थ:—इसीप्रकार स्थूल लक्ष्य से यह भक्ति केवल भक्ति प्रधान अज्ञानी जीवों के ही होती है; उपरोक्त भूमिका प्राप्त न हो तब तीव्र राग-ज्वर मिटाने के लिये अथवा अस्थान का राग निषेध करने के लिए कदाचित् ज्ञानी के होती है।

३:—प्रश्नः—यदि ऐसा हैं, तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को भक्ति की विशेषता होती होगी?

उत्तर:—यथार्थता की अपेक्षा से तो ज्ञानी के ही सच्ची भक्ति है, अज्ञानी के नहीं; तथा रागभाव की अपेक्षा से भक्ति को मुक्ति का कारण जानने से अज्ञानी की श्रद्धा में अति अनुराग है, परन्तु ज्ञानी की श्रद्धा में उसे शुभबंध का कारण जानने से वैसा अनुराग नहीं है। बाह्य से तो ज्ञानी को कदाचित् अति अनुराग होता है तो अज्ञानी को भी होता है—ऐसा जानना चाहिये। (देखो, मो० प्र० अ० ७)

४:—भक्ति का अर्थ गुणानुराग; इससे वह भी अनुराग है। यद्यपि गुणों के विकास को (वह) बाधक है तथापि उसका स्मारक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने से निम्न दशा होती है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी उसे श्रद्धा में अनुपादेय ही समझते हैं।

शुभ भावरूप भक्ति प्रशस्त राग है, प्रशस्त राग का विषय अगले प्रकरण में है, उसमें जो-जो कहा है, वह भक्ति को भी लागू पड़ता है—ऐसा समझना चाहिए। (राग कहीं प्रशस्त नहीं है किन्तु जिसका विषय प्रशस्त=वीतराग देव-शास्त्र गुरु है इस अपेक्षा ऐसा कहा है।)

५:—आत्मा को अपना स्वरूप समझकर, अपने स्वरूप में एकाग्र होना वह 'निश्चय' (यथार्थ) भक्ति है। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है, तब पर से उपदेश की वांछा रखना सर्वथा अनुचित है; पर में पर बुद्धि की उससे कल्याण होने की भावना को छोड़ो। इस विश्वास को छोड़े बिना श्रेयमार्ग का पथिक होना कठिन है। जिसप्रकार संसार को उत्पन्न करने में हम समर्थ हैं उसी प्रकार मोक्ष उत्पन्न करने में भी हम स्वतः ही समर्थ हैं, जैसे कि:-

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

(समाधि शतक)

आत्मा ही आत्मा को संसार और निर्वाण में ले जाता है, इससे परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, दूसरा नहीं। परन्तु ऐसा कथन सुनकर कोई भाई ऐसी अन्यथा कल्पना करता है जो भक्ति मार्ग से विरोधी उपदेश है; उनसे हमारी मध्यस्थता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : २०

प्रशस्तराग–दान, शील, तप, भाव

१:—प्रश्नः—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रहादि द्वेष–परिणति होने से पाप बंध होता है। अन्य जीव को जीवित रखने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय, तथा सत्यादि पुण्य-बंध के कारण हैं, तब फिर जीव अबंध कैसे हो ?

उत्तरः—जहाँ वीतराग होकर ज्ञाता–दृष्टारूप प्रवर्तन करे वहीं निर्बंधता है, इसलिये (मुमुक्षु जीव को) निर्बंधता उपादेय है।

प्रश्नः—ऐसी दशा न हो वहाँ तक कैसे वर्तना ?

उत्तरः—ऐसी दशा न हो वहाँ तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि—यह भी बंध का कारण है, हेय है। यदि श्रद्धा में उसे मोक्षमार्ग समझे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

२:—कितने ही लोग पाप के कारण रागादि को तो हेय जानकर छोड़ते हैं, परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्त राग को उपादेय मानते हैं और उसे बढ़ाने का प्रयत्न भी करते हैं। प्रशस्त राग भी कषाय हैं, कषाय को उपादेय माना, तब उसे कषाय करने का ही श्रद्धान रहा; किसी भी परद्रव्य में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३:—प्रश्न:—तो सम्यग्दृष्टि भी प्रशस्त राग का उपाय रखता है वह क्या ?

उत्तर:—जिसप्रकार किसी का भारी दण्ड होता था, वह अब थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है और थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धा में तो दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को पापरूप भारी कषाय होता था वह अब पुण्यरूप अल्प कषाय करने का उपाय रखता है तथा अल्प कषाय होने से हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धा में तो कषाय को हेयरूप ही मानता है। इसप्रकार प्रशस्त राग के उपाय में और उसके हर्ष में समानता है तथापि सम्यग्दृष्टि को तो दण्डसमान और मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान श्रद्धान होता है; इसलिए इन दोनों के अभिप्राय में अन्तर हुआ। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७)

४:—गृहस्थ के कर्तव्यरूप षट् आवश्यक निम्नप्रकार हैं:—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानश्चेति गृहस्थानां षटकर्माणि दिने दिने ॥७॥

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका, श्रावकाचार)

अर्थ:—जिनेन्द्र देव की पूजा, निर्ग्रंथ गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान श्रावकों को प्रतिदिन करना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टि श्रावक सम्पूर्ण वीतरागी नहीं है इससे उसका पुरुषार्थ अशुभ भाव टाल कर शुभ भावों की ओर जाता है, वह शुभभावना ऐसे छह प्रकार की है। इस प्रशस्त राग के उपाय का वह सेवन करता है क्योंकि वह अल्पकषाय भी दण्डसमान मानता है। यथार्थ समझवाले को इस प्रकार के भाव होते हैं अर्थात् उसका अभिप्राय उपरोक्त पैरा नं० ३ के अनुसार होता है। जब जीव के स्वरूप को यथार्थतया न जानने वाला जीव वैसे भाव करता है, उसे 'व्यापार समान' मानता है, अर्थात् वह प्रशस्तराग को सच्चा धर्म मानता है, परन्तु वह सच्चा धर्म नहीं है; सच्चा धर्म तो वीतराग भाव है। चौथे गुणस्थान में अंशतः वीतराग भाव होते हैं और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागता होने से जीव को केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान प्रगट होने की भूमिका को तेरहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

इन छह भावों को संक्षेप में चार नामों से बताया जाता है और उनके नाम हैं—दान, शील, तप और भाव।

५:—दान का स्वरूप निम्नानुसार है:—

सत्य दान तो लोभ का त्याग है और वह चारित्र का अंश है मूर्च्छा की निवृत्ति ही चारित्र है। अपने को द्रव्यत्याग में पुण्य बंध की ओर दृष्टि नहीं देना चाहिए; परन्तु परवस्तु पर जो ममत्व रहा हुआ है उसे छोड़ने से जो शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है उसे दान समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धन के त्याग से दान नहीं होता, क्योंकि वह परपदार्थ है, उसमें जो ममत्व बुद्धि दूर हुई उसका नाम त्याग है। दान तो मिथ्यादृष्टि भी करता है परन्तु जिस त्याग को मोक्षमार्ग में महत्व दिया है वह तो सम्यग्ज्ञानी के ही होता है।

जप, तप, संयम, शील, व्रत के संबंध में प्रथम लिखा जा चुका है, परन्तु यहाँ विशेष निम्नानुसार बतलाया जाता है:—

जीव के मूल में अन्तर शत्रु जो जीवादि तत्त्वों में मिथ्या अभिप्राय और पश्चात् शत्रु सर्व प्रथम सम्यक्‌दर्शन के द्वारा उनकी विजय करे, विषय-कषायें पश्चात् ही मिट सकती हैं।

मात्र शुभोपयोग के अर्थ से व्रतादि करने की मुख्यता न होने दो। स्वाध्याय का फल भेदज्ञान, और व्रतादि क्रिया का फल निवृत्तिरूप हो वैसे प्रयत्न की आवश्यक्ता है। मात्र पर की रक्षा करने से दया नहीं होती, परन्तु प्रथम महापाप जो मिथ्यात्व से अपनी रक्षा सम्यक्त्व द्वारा ही होती है पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा देश विरती बनने से अशुभ परिणामों से अपनी रक्षा करना वह व्यवहार दया है और उसी समय आंशिक स्वसन्मुखताद्वारा अपने परिणामों की शुद्धता हैं वह निश्चय दया है ऐसा जानना चाहिये।

इतना लक्ष्य में रखना कि—अशुभभाव की अपेक्षा शुभभाव अल्प दोषवाले हैं, इससे पाप की अपेक्षा से उनका निषेध नहीं है; परन्तु उनके द्वारा संसार का दुःखचक्र दूर नहीं होता; इससे मोक्ष (पूर्ण पवित्रता) की अपेक्षा से उनका निषेध है। शुभ छोड़कर अशुभ करना—ऐसा उपदेश हो ही नहीं सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव को तत्वविचार में रुककर तत्व का ज्ञाता होने की आवश्यक्ता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जहाँ अपने से शुद्धभाव न हो सकता हो वहाँ पुण्य छोड़कर पाप में जाना; निबोली कड़वी है इसलिये छोड़ना चाहिये—ऐसा कहा जाये तो उसका अर्थ यह नहीं है कि तालकूट विष खाना चाहिये। पाप तो तालकूट विष है इसलिये वह तो सबको छोड़ना चाहिये। यह उपदेश तो जगत के लोग भी करते हैं, उसके लिये शास्त्रों की आवश्यक्ता नहीं है परन्तु पुण्य की रुचि और पुण्य क्या है, उससे लाभ है या नहीं वह समझाने के लिये शास्त्र रचे गये हैं, क्योंकि लोग उसे धर्म मानते हैं, जब कि ज्ञानी अपने ज्ञान में समस्त शुभाशुभ भाव को अशुद्ध और वीतराग धर्म से विरुद्ध ही जानता है।

प्रकरण : २१

देह-दमन-इन्द्रियनिग्रह और शारीरिक क्रिया का स्वरूप

१:—देह और इन्द्रियाँ पुद्गल द्रव्य हैं और जीव चैतन्य द्रव्य है, इससे दोनों द्रव्य भिन्न हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं चल सकता। जीव जबतक अपना यथार्थ स्वरूप न समझे वहाँ तक वह समझता है कि अपना अधिकार शरीर पर चलता है; वास्तव में तो शरीर की कोई क्रिया जीव को लाभदायक या हानिकारक नहीं है। जीव की पवित्रता लाभदायक और अपवित्रता हानिकारक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२:—जीव देह में रहता है वह व्यवहार वचन है अर्थात् वह लोक-प्रसिद्ध भाषा है। वास्तव में जीव जीव में रहता है और देह देह में रहती है। जीव जब भेदविज्ञान करता है तब यह स्वरूप बराबर समझ लेता है; जबतक भेदविज्ञान न हो तब तक वह ऐसा मानता रहता है कि जीव शरीर को चलाता है अथवा तो शरीर जीव को चलाता है (जैसे दंडा बेड़ी आदि में)। जीव और देह-दोनों वास्तव में तो अपने-अपने क्षेत्र में रहते हैं। प्रत्येक के स्वचतुष्टय भिन्न भिन्न हैं, वे आकाश क्षेत्र में एक क्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, परन्तु इससे वे भाव से एक नहीं हो जाते। जीव का और शरीर का एक सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध ऐसा है कि—जीव इच्छा करे और शरीर उस समय चलने योग्य हो तो चलता है। कई बार ऐसा बनता है उससे जीव मान लेता है कि मैं चलाता हूँ। यदि जीव में उसे चलाने की शक्ति हो तो जब जब वह चलाने की इच्छा करे तब-तब चला सकता है, अथवा रोकने की इच्छा करे तब रोक सकता है। परन्तु यदि बचपन हो, शरीर में वात रोग हो, कँपकँपी हो, भूकम्प हो, पक्षघात हो, जरावस्था आये, रोग हो, लोहू निकले तब जीव की इच्छा और शरीर की क्रिया एक दूसरे से विरुद्ध होते हैं। जीव की इच्छा हो और वैसे पुण्य के उदय का योग हो तब जीव की इच्छा के अनुकूल शरीर की क्रिया स्वयं होती है। यह सहज निमित्त-नैमित्तिक स्वतन्त्र सम्बन्ध है, इससे वह एक अलग प्रकरण के रूप में आगे दिया गया है। अब प्रश्न उठता है कि—यदि जीव शरीर को नहीं चलाता है तो जब शरीर मुर्दा होता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब क्यों नहीं चलता ? उसका उत्तर यह है कि—शरी पुद्गल-जड़ पदार्थ है, उसकी अवस्था चलनेरूप ही हो- ऐसा नहीं होता। किसी समय वह स्थिर होने योग्य भी होती है मुर्दे की (पुद्गल की) अवस्था उस समय स्वतः से स्थिर रहने योग्य है, इससे वहाँ उस समय कोई जीव निमित्त रूप से उपस्थि होता ही नहीं—ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक संबंध है। देह औ जीव एक आकाश क्षेत्र में होने से देह को असद्भूत व्यवहारनय 'सचेतन' कहा जाता है, और 'जीव शरीर को चलाता है' ऐ कहा जाता है। उसका अर्थ ही यह है कि देह को सचेतन कह इत्यादि 'असत्' है, परन्तु लोगों का वैसा बोलने का प्रसि 'व्यवहार' है, इससे अज्ञानी जो वैसी भाषा बोलते हैं उ 'व्यवहार' कहा जाता है। वह वास्तविकता नहीं है इससे उ 'असद्भूत' कहा जाता है। विचारक सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही ज्ञा होता है, इससे उसे श्रुतज्ञान का पक्ष अर्थात 'नय' कहा जाता है तथापि जीव वास्तव में चलाता है ऐसा मानलें तो वह निश्च का वचन हो जाये, जो कि बराबर नहीं है। वह तो निमित्त उपादान मानने के बराबर होता है, इसलिये जीव को विचारक यथार्थस्वरूप समझ लेना चाहिये। जीव शरीर की क्रिया नहीं क सकता इससे उसे स्वीकार करना या निषेध करना है ही नहीं [बृहत् द्रव्यसंग्रह गा० ८ की टीका में आचार्य ने कहा है कि "व्यवहारनय से जीव को कर्तापन का राग आता है उसका अर्थ ऐसा न करे कि जीव हस्तादिक की क्रिया व्यवहार से कर सकते"]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३:—तब फिर प्रश्न उठता है कि 'देह-दमन' 'इन्द्रिय-निग्रह' कैसे हो सकता है ?

उत्तर:—जितेन्द्रियता का यथार्थ स्वरूप प्रकरण ६ के चौथे पैरे में दिया है, वहाँ से समझ लेना। जब जीव अपना आत्म स्वरूप यथार्थ समझता है तब देह और इन्द्रियों को अपना नहीं मानता; और स्व में संतोष को धारण करता रहता है उससे उन पर का राग क्रमशः दूर होता जाता है। ज्ञानी जड़ इन्द्रियों को तथा जड़ देह की पुष्टि का राग दूर करते हैं, इससे सहज ही गृद्धिभाव अल्प होने से आहार लेने का विकल्प अथवा इन्द्रियों की पुष्टि का विकल्प टूटता जाता है, और आहार लेने का तथा इन्द्रियों की पुष्टि का कार्य सहज ही नहीं बनता वह 'देह-दमन' और 'इन्द्रिय-निग्रह' का यथार्थ स्वरूप हैं।

४:—जिसे आत्मा के स्वरूप का भाव भासन सहित भेद-ज्ञान नहीं है वह तो ऐसा मानता है कि देह और इन्द्रियों पर मेरा अधिकार चल सकता है, और वैसा अधिकार भोगते समय जो क्रिया होती है उसे वह देह-दमन और इन्द्रियनिग्रह मानता है; परन्तु वह क्रिया सहज न होने से जीव को कष्ट होता है, कष्ट तो दुःख है, उसे आर्तध्यान कहा जाता है। आर्तध्यान तो बुरा ध्यान है और वह पापरूप है, पाप से धर्म कैसे हो ? धर्मध्यान तो आत्मा की अंशतः शुद्ध अवस्था है। धर्म का अर्थ है वस्तु का स्वभाव। वस्तु का स्वभाव कष्टदायक—दुःखदायक होता ही नहीं, परन्तु मिथ्यात्व और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागादि दु:ख देता है। आत्म वस्तु का स्वभाव समझने से धर्म होता है। 'यथार्थ समझरूप धर्म' त्रैकालिक पूर्णज्ञानस्वभावी निज शक्तिरूप स्वमें एकाग्र होने से होता है जिसका नाम शुद्धोपयोग है; जघन्यरूप में तारतम्यरूप वह ४ से ७ वें गुणस्थान तक होता है उसे 'धर्मध्यान' कहा जाता है। धर्मध्यान में जीव के रुकने से जितने अंश में जड़ इन्द्रियाँ या उनके विषयों प्रति रागादि की उत्पत्ति का न होना उसे 'इन्द्रिय निग्रह' कहते हैं और उसी को 'देह दमन' कहा जाता है।

५:—मिथ्यात्व, राग, द्वेष यह विकारी चैतन्यदेह है। 'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण' वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है और वह सत्य देहदमन तथा इन्द्रिय निग्रह है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से ही उसके ऊपर का (देह-इन्द्रिय के ऊपर का) राग-द्वेष अंशतः टूट जाता है और जब जीव स्वरूपाचरण चारित्र में पूर्ण होता है तब राग द्वेष का पूर्ण नाश करता है तब विकारी चैतन्य देह का दमन पूर्ण होता है। जड़ इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का व्यापार सर्वथा बन्द होकर संपूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान हो तब जड़ इन्द्रियनिग्रह, और जड़ देह-दमन कहलाता है। देह दमन और इन्द्रिय दमन का इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सत्य अर्थ नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : २२

मोक्षमार्ग में ज्ञान कितने प्रतिशत और क्रिया कितने प्रतिशत

१:—"ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः" इस सूत्र में ज्ञान कितने प्रतिशत गिनना और क्रिया कितने प्रतिशत गिनना, वह यहाँ कहा जाता है।

२:—यहाँ 'ज्ञान' अर्थात् सम्यग्ज्ञान का शतप्रतिशत, और क्रिया का अर्थ है 'शुद्धात्म अनुभव क्रिया' उसका भी शतप्रतिशत जब प्रगट हो अर्थात् परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है तब मोक्ष प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की अपूर्णता हो वहाँ तक सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं होती। मोक्षका अर्थ है जीव की अपनी पूर्ण पवित्र दशा।

३:—इससे सिद्ध हुआ कि—(१) शुद्धात्मा की अनुभवरूप ज्ञान की क्रियामें शारीरिक क्रिया का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग तक नहीं, (२) चैतन्य की शुभक्रिया का (पुण्य का) भी उसमें एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं, (३) चैतन्य की अशुभ क्रिया (पाप) का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं, (४) मिथ्यात्व (विपरीत मान्यता) का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं, (५) मिथ्याज्ञान का या ज्ञान की अपूर्णता का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग तक नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४:—यह सब अस्वीकृतरूप कहा; स्वीकृतरूप निम्न प्रकार हैं:—

(१) केवल सम्यग्दर्शन;

(२) सम्यग्ज्ञान की पूर्णता;

(३) सम्यग्चारित्र की (चैतन्य शुद्धक्रिया की) पूर्णता।

५:—मोक्ष अर्थात् विकार में से संपूर्णतया मुक्त होना। संपूर्णतया विकार से मुक्त होना ही सम्पूर्ण शुद्धता है और जहां सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट हो वहाँ सम्पूर्ण सुख प्रगट होगा ही, यह निर्विवाद है। शुद्धता अर्थात् पवित्रता। आत्मा के सच्चे स्वरूप को न समझने वाला शुभ भाव (पुण्य) और पवित्रता मानता है; आत्मा के स्वरूप को समझनेवाला शुभाशुभ भाव रहित अर्थात् मिथ्यात्व राग-द्वेष रहित सम्पूर्ण अकषायभाव को (वीतरागता को) पवित्रता मानता है।

प्रकरण : २३

जीव को प्रथम क्या करना चाहिये ?

१:—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में इस सम्बन्ध निम्न अर्थ में कहा है:—

(१) प्रथम तत्त्वज्ञान का उपाय करना और पश्चात् कषाय घटाने का प्रयत्न करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि—पहले तत्त्वज्ञानी हो, पश्चात् जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने। त्याग करने से जो गुण हो उसे जाने और अपने परिणामों का विचार करे।

(३) पहले तत्वज्ञान होने के पश्चात् ही आचरण कार्यकारी है।

(४) हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है, वहाँ जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वों को पहिचानना, त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि के स्वरूप को यथावत् जानना; जिसे जानने से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति हो उसे अवश्य जानना, उसकी तो परीक्षा करना, सामान्य रूप से हेतु-युक्ति द्वारा उसे जानना, प्रमाण-नयों द्वारा जानना।

(५) जीव का कर्तव्य तो तत्वनिर्णय का अभ्यास ही है, और तब दर्शनमोह कर्म का उपशम तो स्वयं ही होता है। (मोक्षमार्ग प्र० अध्याय ९)

६:—अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है, इससे श्री गुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते है, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना चाहिये।

(७) प्रथम तो आज्ञादि द्वारा और परीक्षा द्वारा कुदेवादि की मान्यता छोड़कर अरिहंत देव का श्रद्धान करना; क्योंकि उनका श्रद्धान होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इसलिये प्रथम सत् देवादिक का श्रद्धान करना चाहिये, पश्चात् जिनमत में कहे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए जीवादि तत्वों का विचार करना, उनके नाम लक्षणादि सीखना, क्योंकि इनके अभ्यास से तत्व श्रद्धान की प्राप्ति होती है। पश्चात् जिनसे स्व-पर का भिन्नत्व भासित हो वैसे विचार करना, क्योंकि इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है, उसके पश्चात् स्व में स्व पना मानने के अर्थ से विचार करते रहना; क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ६)

(८) स्वाधीन उपदेश देनेवाले आत्मज्ञानी गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्म वाक्यों को नहीं सुनता वह हठी और दुष्टचित्त है। अथवा जिस संसार भय से श्री तीर्थंकरादि भयभीत हुए उस संसार भय से जो रहित है वह महान योद्धा है। श्री प्रवचनसार में जहाँ मोक्षमार्ग अधिकार कहा है वहाँ भी प्रथम आगम ज्ञान ही ग्रहण करने योग्य कहा है, इसलिये इस जीव का मुख्य कर्तव्य तो आगम ज्ञान है, यह होने पर तत्वों का श्रद्धान होता है, तत्वश्रद्धान होने से संयमभाव होते हैं और उस आगम से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे सहज मोक्ष की प्राप्ति होती है। (मोक्षमार्ग प्रका० अध्याय १ अंतिम पैरा)

इसलिये पहला प्रयत्न आत्मज्ञान प्राप्ति का होना चाहिये। यदि आभ्यंतर के लिये प्रयास नहीं है तो सर्व क्रियाकाण्ड आडम्बर में परिणत हो जाता है। सर्व प्रयत्नों का उद्देश्य स्वात्म उद्देश्य ही होना चाहिये।

इसलिये सर्व कार्यों से पूर्व दृढ़ता सहित स्वात्मबोध करना चाहिये कि मैं हूँ अवश्य। जबतक अपनी सत्ता का निर्णय न है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तबतक अन्धकार का नाश मुट्ठी से करने का प्रयत्न करने जैसी मूर्खतापूर्ण है।

इससे जबतक हो सके उन औपाधिक भावों का यथार्थ ज्ञान करना ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। औपाधिक भावों का त्याग किये बिना, हम सम्यग्दर्शन के पात्र नहीं हो सकते।

३—प्रश्नः—मिथ्यात्व और राग द्वेष कैसे दूर होते हैं ?

उत्तरः—उसका उपाय यह है कि प्रथम स्वानुभव से आत्मतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा करना।

प्रश्नः—स्वानुभव कैसे होता है ?

उत्तरः—जिसप्रकार परोन्मुख होने से पर का ज्ञान होता है, तथा जो पर का जाननेवाला है वही यदि स्वोन्मुख हो तो स्वयमेव अपना ज्ञाता हो जाता है। मात्र उपयोग को बदलने की आवश्यक्ता है, और तब यह सहज ही समझ में आ जाता है।

श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में निम्नानुसार कहा है:—

'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार,
अेवो लक्ष थया बिना, उगे न आत्मविचार ॥११॥

सद्गुरुना उपदेश वण समजाय न जिनरूप,
समज्या वण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप ॥१२॥

आत्मादि अस्तित्वनां जेह निरूपक शास्त्र,
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहीं त्यां आधार सुपात्र ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने दो उपाय बतलाये हैं। प्रथम तो प्रत्यक्ष आत्म-ज्ञानी का उपदेश सुनना और यदि वह उपस्थित न हो तब आत्मा और उसके तत्व का प्ररूपण करनेवाले शास्त्र का अभ्यास करना। जीव की अनादि की विपरीतता है वह आत्मस्वरूप को यथार्थतया जानने वाले सद्गुरु के बिना समझ में नहीं आती। जीव को सुपात्रता प्राप्त करना होगी और तभी वह शास्त्रों के मर्म को समझ सकेगा।

५:—श्री समयसार गाथा १२ के भावार्थ में निम्नप्रकार बताया है:—

'जबतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तब तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना, श्री जिन गुरु भक्ति, जिनप्रतिमा के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है।'

इसमें मुमुक्षु की पात्रता और उत्तरदायित्व है; उसे इतनी पात्रता तो प्राप्त करके, परीक्षा करके निश्चित् करना पड़ेगा कि जो मैं सुनता हूँ वे ऐसे जिनवचन हैं जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है? जबतक जीव इतना भी निश्चित् न करे तबतक तो उसे धर्म की रुचि ही नहीं है। 'स्थूल व्यवहार मार्ग' भी तभी कहलाता है जब यह निश्चित करे कि वह 'निश्चयमार्ग' नहीं है। यदि वैसा मानेगा तो अज्ञानमय व्यवहार मार्ग को छोड़कर निश्चयमार्ग ग्रहण करेगा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु यदि वैसा न माने तो 'व्यवहार मार्ग' को ही सच्चा मार्ग गिनेगा और उसी को 'निश्चयमार्ग' मान लेगा; इसलिये अनादि से जो भूल चली आ रही है वह बनी रहेगी और शुभोपयोग को धर्म मानेगा। व्यवहार मार्ग जानने योग्य है, परन्तु अनुसरण करने योग्य नहीं है।

श्री समयसार गाथा ८ के भावार्थ में कहा है किः—

'व्यवहारनय × × परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहार नय स्थापन करने योग्य है × × × वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है। × × यहाँ तो व्यवहारनय का अवलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाते हैं—ऐसा समझना।'

आत्मा का स्वरूप समझे बिना किसी जीव ने व्रत किये और उसका फल सम्यग्दर्शन हुआ—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, क्योंकि बालव्रत का फल कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जिन जीवों के व्रत नहीं थे उन्होंने ज्ञानी पुरुषों का यथार्थ उपदेश सुनकर, तत्त्व विचार करके, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जैसे कि :—

(१) श्री कृष्णवासुदेव—कोई व्रत नहीं था, तथापि श्री नेमिनाथ भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।

(२) श्री श्रेणिक महाराजाः—कुछ भी व्रत नहीं था, तथापि सम्यग्ज्ञानी गुरु का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भगवान महावीर स्वामी के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दृष्टि-पना प्राप्त किया।

अनेक द्रव्यलिंगी भव्य या अभव्य मुनि निरतिचार पंच-महाव्रत का पालन करते हैं, उसका फल नवमें ग्रैवेयक में देव होना बताया है, परन्तु सम्यग्दृष्टिपना नहीं बताया; क्योंकि वह फल नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं कि शुभ भावों को छोड़कर पाप किये जायें; परन्तु वे शुभ भाव सम्यग्दर्शन का (धर्म का) कारण नहीं हैं—ऐसा समझकर आत्मा का तत्व क्या है उसे बराबर जान कर सम्यग्दर्शन प्रगट करना।

कोई ऐसा मानता है कि—

'बाह्यव्रत अधिक धारण करने से मिथ्यात्व की न्यूनता होगी, परन्तु वह नहीं होता, क्योंकि जैसे एक भैंसा जो कि हजारों घास के पूले खा गया है वह एक तृण से नहीं डरता; उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी भैंसा जो कि पूलों रूपी अनन्तानुबंधी कषाय से अनन्तबार चारित्र को खा गया है वह एक तृणरूपी बाह्यव्रत से कैसे डरेगा ? परन्तु जैसे भैंसे को एक बंधन से बाँध लें तो वह आधीन हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी भैंसे को आत्मा के बलरूपी बंधन से बाँध लें तब वह आधीन हो, अर्थात आत्मा की शक्ति बढ़े तब मिथ्यात्व कम हो।' (देखो, देवनागरी लिपि में श्रीमद् राजचन्द्र पृष्ठ ५०९)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : २४

निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है ? भाग—१

१:—श्री समयसार गा० ११६ से १२० की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि :—

'क्या जीव स्वयं अपरिणमित पुद्गल द्रव्य को कर्मभाव-रूप परिणमित करता है या स्वयं परिणमित को ?

'प्रथम, स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः (अपने से ही) न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता, इसलिये प्रथम पक्ष असत्य है।

दूसरा, स्वयं परिणमित को तो पर (अन्य) परिणमित करने वाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। (इसलिये दूसरा पक्ष भी असत्य है)'

वे (श्री अमृतचन्द्राचार्य) समयसार गाथा १२१ से १२५ की टीका में निम्नानुसार कहते हैं:—

'पुद्गल कर्म जो क्रोधादिक हैं वह स्वयं अपरिणमित जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करते हैं या स्वयं परिणमित को ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम, स्वयं अपरिणामित को पर द्वारा परिणामित नहीं किया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। और स्वयं परिणामित को तो पर (अन्य) परिणमित करने वाले की अपेक्षा ही नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (इसप्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं)'

२:—एक द्रव्य जब विकारी अवस्था धारण करता है तब दूसरे द्रव्य की अवस्था (पर्याय) उपस्थित होती है–यह बात सत्य है; परन्तु उससे एक द्रव्य की विकारी अवस्था दूसरे से नहीं की जा सकती; द्रव्य जो विकारी अवस्था धारण करता है वह स्वतः अपने से ही करता है, उस समय जो पर द्रव्य की अवस्था उपस्थित होती है उसे 'निमित्त' नाम दिया जाता है, परन्तु उपादान को (नैमित्तिक को) निमित्त कुछ कर नहीं सकता,—ऐसा उपरोक्त सिद्धान्त से निश्चित होता है। यथार्थ स्वरूप को न समझने वाले निमित्त को उपादेय मानते हैं, परन्तु वह भूल है। इससे श्री जयसेनाचार्य ने समयसार टीका में वह मान्यता छोड़ देने के लिए कहा है।

३:—इस जगत में एक सहज निमित्त–नैमित्तिक भाव ऐसा है कि, पुद्गलकर्म का उदय हो तब जीव अपना सत्य पुरुषार्थ न करे तो अपनी असावधानी के कारण स्वतः विकारी भाव करता है तब कर्म के उदय पर जीव के विकारी भाव का 'निमित्त कारण' होने का आरोप आता है। यदि जीव सावधानी रखे और विकारी भाव न करे तो वही पुद्गल कर्म 'निर्जरा' नाम प्राप्त करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों कथन में पुद्‌गल कर्म आत्मप्रदेश में से खिर गये—इतना ही उस पुद्‌गल में बना है, इससे जीव विकारी भाव करे तब कर्म का उदय जो 'निमित्त' नाम प्राप्त करता है वह कर्मोदयरूप निमित्त उपस्थित होने पर भी उससे पृथक् ही जीव का परिणमन होता है।

४:—कर्म का उदय बंध का कारण नहीं है—ऐसा श्री प्रवचनसार अध्याय १ की गाथा ४३ के भावार्थ में पं० हेमराजजी ने बताया है वह निम्नानुसार है:—

भावार्थ:—'सर्व संसारी जीवों के कर्मों का उदय है, परन्तु उदय बंध का कारण नहीं है। यदि कर्मजनित इष्ट-अनिष्ट भावों में जीव रागी-द्वेषी, मोही होकर परिणमन करता है तो बंध होता है; इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान तथा कर्म के उदय से उत्पन्न जो क्रिया वह बंध का कारण नहीं है। बंध का कारण तो केवल राग-द्वेष-मोह भाव हैं; इसलिये वे सर्व प्रकार से छोड़ने योग्य हैं।

प्रवचनसार की गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने यह विषय प्रश्न-उत्तररूप से रचा है, वह निम्नानुसार है:—

'अत्र-शिष्य:—'औदयिका भावा बंध कारणं' यह आगम-वचन तो वृथा होता है ?

परिहार:—उदयभाव बंधकारण होता है, परन्तु मोह-उदय में युक्त हो तो बंधकारण होता है। द्रव्यमोहोदय होने पर भी यदि शुद्ध आत्मभावना के बल से भावमोहरूप परिणमित न हो तो बंध नहीं होता। और यदि मात्र कर्मोदय से ही बंध हो तो संसारी के सर्वदा कर्मोदय विद्यमान होने से सर्वदा बंध ही रहे, मोक्ष न हो; ऐसा यहाँ अभिप्राय है।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जीव यदि विकारी भाव करे तो कर्म का उदय 'निमित्त' कहलाता है। निमित्त कहीं पर द्रव्य को (जीव को) नहीं करता, इसलिये निमित्त मात्र विद्यमान होता है परन्तु वह परद्रव्य का कुछ नहीं करता'। निमित्त नहीं है—ऐसा कहो तो ज्ञान की भूल है इससे मिथ्याज्ञान का दोष आता है, और यदि निमित्त उपादान को कुछ करता है अथवा कर्म का तीव्र उदय हो तब जीव को उसका अनुसरण करके विकारीभाव करना पड़ते हैं—ऐसा मानो, मिथ्या-दृष्टिपना आता है; इसलिये दोनों को जैसे हैं वैसा समझना चाहिये।

५:—उपादान का विकारकार्य होने में उपादान का शत-प्रतिशत है और निमित्त का एक प्रतिशत भी नहीं है। निमित्त का शतप्रतिशत निमित्त में है। यदि उसका कुछ अंश (प्रभाव) निमित्त में जाये तो निमित्त द्रव्य का अस्तित्व ही न रहे; निमित्त की अनन्तशक्ति निमित्त में रहती है क्योंकि किसी वस्तु की अनन्तशक्ति में से कुछ शक्ति दूसरी वस्तु में जाये तो अपनी शक्ति क्रमशः क्षीण होने से रहेगी ही नहीं। यह सिद्धान्त श्री समयसार की गाथा १०३ में निम्नानुसार दिया है:—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णाह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥१०३॥

अर्थः—जो वस्तु (द्रव्य) जिस द्रव्य में और गुण में प्रवर्तमान होती है वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण नहीं पाती (बदल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर अन्य में नहीं मिल जाती); अन्यरूप से संक्रमण न पाती हुई वह (वस्तु); अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर सकेगी ?

टीका:—जगत में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निजरस से ही अनादि से ही प्रवर्तमान है वह, वास्तव में अचलित वस्तु-स्थिति की मर्यादा को (इस गुण को 'अगुरुलघु गुण' कहा जाता है) तोड़ने में अशक्य होने से, उसी में (अपने उतने ही द्रव्यगुण में) प्रवर्तमान रहती है, परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण नहीं पाती; और द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमित न होनेवाली वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर सकती है ? (कभी नहीं कर सकती); इसलिये परभाव किसी से नहीं किये जा सकते।

प्रकरण : २५

निमित्त पर द्रव्य का क्या कर सकता है ? भाग—२

१:—यह सिद्धान्त श्री समयसार नाटक में सर्व विशुद्ध अधिकार में बताया है, वह निम्नप्रकार है :—

अज्ञानियों के विचार में मिथ्यात्व और राग–द्वेष का कारण

(दोहा)

'कोऊ मूरख यों कहै, रागदोष परिनाम ।
पुग्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम ।।६२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्यों ज्यों पुग्गल बल करै, धरि धरि कर्मज भेष।
रागदोष कौ परिनमन, त्यों त्यों होइ विशेष' ॥६३॥

अर्थः—कोई-कोई मूर्ख कहते हैं कि आत्मा में रागद्वेष-भाव पुद्गल की बलजबरी से होते हैं। वे कहते हैं कि—पुद्गल-कर्म जितना-जितना बल करता है उतनी-उतनी बाहुल्यता से रागद्वेष परिणाम होते हैं।

अज्ञानी को सत्यमार्ग का उपदेश।

(दोहा)

इहि विधि जो विपरीत पख, गहै सद्है कोइ।
सो नर रागविरोध सों, कबहूँ भिन्न न होइ ॥६४॥

सुगुरु कहै जगमें रहै, पुग्गल संग सदीव।
सहज सुद्ध परिनमनिकौ, औसर लहै न जीव ॥६५॥

तातैं चिद्भावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यात्वमें, समकित में सिव भाउ ॥६६॥

(देखो समयसार नाटक पृ० ३५३)

अर्थः—ऊपर जो विधि कही है वह तो विपरीत (उल्टा) पक्ष है, जो उसे ग्रहण करता है या उसकी श्रद्धा करता है उस जीव के राग, द्वेष, मोह कभी भिन्न होते ही नहीं। श्रीगुरु कहते हैं कि जीव को पुद्गल का संग सदा (भूमिकानुसार निरंतर) रहता है, तब फिर उसे सहजशुद्ध परिणमन का कभी अवसर ही नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलेगा, इसलिये चैतन्य के भाव करने में चेतन राजा समर्थ है। वह स्वतः से मिथ्यात्व दशा में राग-द्वेषरूप होता है, और सम्यक्त्व दशा में शिवभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२:—कर्म का उदय जीव को कुछ नहीं कर सकता, अर्थात् निमित्त उपादान के कुछ नहीं कर सकता। इन्द्रियों के भोग, लक्ष्मी, कुटुम्बीजन या मकानादि के लिये भी वही नियम है। प्रश्नोत्तर के रूप में श्री समयसार नाटक के 'सर्वविशुद्धि द्वार' में निम्नअनुसार यह नियम दिया है।

'कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है।
पुग्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनि कौ भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहैं छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनि कौं सदा *असहाई परिनौंन है।
कोऊ दरब काहू कौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

* प्रत्येक द्रव्य असहाय-स्वतंत्र और परके आधार रहित है; ऐसा समयसार नाटक में अनेक स्थानों पर कथन है। देखो, पृष्ठ ३४३ गाथा ५१। पृष्ठ ३८२ गाथा ११६। पृष्ठ १९५, १९६, २३२, २४६, २६४, २८८। कर्ताकर्म द्वार गाथा ३५, निर्जरा अधिकार गाथा २०, ३८, ३९। बंधद्वार गाथा १७, ३१, ५३। मोक्षद्वार गाथा २१, २२ और सर्वविशुद्धि द्वार गाथा ५१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—शिष्य कहता है ! स्वामी ! राग द्वेष परिणामों का मूल प्रेरक कौन है ? वह आप कहिये । पुद्‌लकर्म, इन्द्रियों का भोग, धन, कुटुम्बीजन या मकान ?

श्री गुरु समाधान करते हैं कि, छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूप में हैं; सभी सदा असहाय परिणमित होते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कभी भी प्रेरक नहीं है। राग-द्वेष का कारण, मिथ्यात्वरूपी मदिरा का पान है।

३:—इस पर से सिद्ध हुआ कि द्रव्यकर्म या अन्य कोई पदार्थ जीव को बिल्कुल हैरान नहीं कर सकते। जीव को अनादि से परके दोष देखने का अभ्यास है, इससे शास्त्र स्वाध्याय में वह 'असद्‌भूत व्यवहार के' वचनों का परमार्थ भाव न समझने से द्रव्यकर्मों पर दोष डालता है; दोष अपना है, तथापि उसे नहीं देखता—यह महादोष है। यह सिद्धान्त समयसार कलश २१९ में तथा गाथा ३७२ में दिया है:—

रागद्वेषोत्पादकं तत्वदृष्टया नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ।२१९

अर्थः—तत्त्वदृष्टि से देखने पर, रागद्वेष को उत्पन्न करने वाला अन्य द्रव्य किंचित् दिखाई नहीं देता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की (पर्याय-) उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है।

श्री समयसार की गाथा ३७२ में भी कहा है कि:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरइ गुणुप्पाओ ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अर्थ:—अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य से गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे (यह सिद्धांत है कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

टीका:—और ऐसी शंका नहीं करना कि जीव को पर-द्रव्य रागादिक उत्पन्न कराते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पाद कराने की अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

× × × ×

इसलिये (आचार्य देव कहते हैं कि) जीव को रागादिका उत्पादक हम पर द्रव्य को देखते (मानते, समझते) नहीं हैं कि जिस पर कोप करें।"

ऐसा स्पष्ट स्वरूप होने पर भी द्रव्यकर्म जीव को हैरान करते हैं—ऐसा वास्तव में मानना वह गम्भीर भूल है।

४:—पर द्रव्य तो निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य गुण पर्याय उत्पन्न नहीं कराता—यह नियम है। जो ऐसा मानते हैं—ऐसा एकान्त करते हैं कि—'पर द्रव्य ही मुझे रागादिक उत्पन्न करता है' वे नय विभाग को नहीं समझे हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीव के सत्व में उत्पन्न होते हैं, पर द्रव्य तो निमित्त-मात्र है—ऐसा मानना सो सम्यग्ज्ञान है। इसलिये आचार्यदेव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं कि—हम राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य पर किसलिये कोप करें ? रागद्वेष का उत्पन्न होना वह अपना ही अपराध है।

५:—पर द्रव्य बलात्कार से तो कहीं भी नहीं बिगाड़ता; इस सिद्धान्त की स्पष्टता श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में निम्न प्रकार की गई है।

"प्रश्न:—सम्यग्दृष्टि भी पर द्रव्यों को बुरा जानकर त्याग करता है ?

उत्तर:—सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं जानता, परन्तु अपने रागभाव को बुरा जानता है; स्वत: सरागभाव को छोड़ता है इससे उसके कारणों का भी त्याग होता है। वस्तु का विचार करने से कोई पर द्रव्य तो अच्छा-बुरा है ही नहीं।" (इस सिद्धान्त पर पैरा नं० ३ में भी बतलाया है।)

प्रश्न:—निमित्तमात्र तो है ?

उत्तर:—परद्रव्य बलात्कार से तो कहीं बिगाड़ता नहीं है, परन्तु अपना भाव बिगड़े तब वह बाह्य निमित्त कहलाता है। और इस निमित्त के बिना भी, भाव तो बिगड़ते हैं, इसलिये वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार पर द्रव्य का दोष देखना तो मिथ्याभाव है। रागादि बुरे हैं—ऐसी उन्हें समझ नहीं है; वे (द्रव्यलिंगी मुनि) तो पर द्रव्य के दोष देखकर उसमें द्वेषरूप उदासीनता करते हैं। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि—किसी भी परद्रव्य के गुण और दोष भासित न हों, और उससे वह किसी को भी भला-बुरा न जाने, अपने को अपनेरूप जाने और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर को पररूप जाने; परके साथ मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है— ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। ऐसी उदासीनता ज्ञानी के ही होती है।

प्रश्नः— जीव के आत्मप्रदेश में बँधा हुआ कर्म उदय में आने से वह दुःख में निमित्तरूप कहलाता है और दूसरे जीवों के प्रदेश में कर्म है वह क्यों निमित्तरूप नहीं कहलाता ?

उत्तरः—जीव के अपने परिणाम का निमित्त पाकर जो कर्म उपार्जित होते हैं वही निमित्तरूप कहलाते हैं; जगत के दूसरे जीवों के प्रदेश में रहे हुए कर्म इस जीव के परिणाम का निमित्त पाकर नहीं हुए हैं, इससे इस जीव को निमित्त होते ही नहीं।

प्रकरण : २६

निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है ? भाग—३

१:—जिसप्रकार परद्रव्य (जड़कर्म) जीव को कुछ कर नहीं सकते, वैसे ही जीव भी जड़ शरीर या कर्म का न कर्ता है, न करानेवाला है, न प्रेरक है, न अनुमति देनेवाला है। यह सिद्धान्त श्री प्रवचनसार अध्याय दूसरा, गाथा ६८ में बतलाया है, जो निम्नानुसार है:—

अब शरीरादि परद्रव्य में भी मध्यस्थभाव दिखाते हैं:—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥६८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थः—मैं शरीररूप नहीं हूँ, मनोयोगरूप नहीं हूँ, और वचनयोगरूप भी नहीं हूँ; उन मन–वचन–काय के उपादान कारण-रूप पुद्गल पिण्ड भी मैं नहीं हूँ, इन तीनों योगों का मैं कर्ता नहीं हूँ, अर्थात् मेरे कर्तृत्व के बिना ही वे योग पुद्गलपिण्ड से किये जाते हैं; इन तीनों योगों का प्रेरक होकर करानेवाला मैं नहीं हूँ, पुद्गलद्रव्य ही उनका कर्ता हैं; उन योगों के करनेवाले पुद्गल पिण्ड का अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ, मेरी अनुमोदना के बिना ही पुद्गल-पिण्ड उन योगों का कर्ता है, इसकारण मैं परद्रव्य में अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

भावार्थः—स्व–पर विवेकी जीव सर्व द्रव्यों के स्वरूप को जाननेवाला है, इस कारण इन तीनों योगों (मन, वचन, काय) को पौद्गलिक जानता है, उसमें कृत–कारित–अनुमोदना भाव न करने से, परद्रव्य का भाव जानकर त्यागी होता है, स्वरूप में निश्चल होकर तिष्ठता है (स्थिर होता है) और शुभ–अशुभ उपयोगरूप अशुद्ध उपयोग का विनाश करके निरास्रव होकर शुद्ध उपयोगी होता है। (इस नियमकी श्री प्रवचनसार की गाथा ६९, ७०, ७६, ७७, ७८, ७९ में विशेष चर्चा है। समयसार गाथा ११६ से १२० में भी है वह लिया गया है।)

२ः—यह नियम निमित्तनैमित्तिकभाव को अस्वीकार नहीं करता, परन्तु उसे यथार्थतया बतलाकर उसका प्रतिपादन करता है कि—परद्रव्य विद्यमान होता है, तथापि वह परभाव का निमित्त बलात नहीं बन सकता। यह सिद्धान्त श्री समयसार की गाथा २२०–२२३ में बताया है, उसकी टीका निम्नानुसार हैः—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसप्रकार शंख परद्रव्य को भोगता है—खाता है, तथापि उसकी सफेदी परके द्वारा काली नहीं की जा सकी, क्योंकि परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं बन सकता; उसीप्रकार ज्ञानी परद्रव्य को भोगे, तथापि उसका ज्ञान पर के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त नहीं बन सकता। इसलिये ज्ञानी को पर के अपराध के कारण बंध नहीं है।

और जब वही शंख, परद्रव्य का उपभोग करता या न करता हुआ श्वेतभाव को छोड़कर स्वयमेव कृष्णभावरूप परिणमित हो तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव हो, (अर्थात् अपने ही द्वारा किये गये कृष्णभावरूप हो) उसीप्रकार वही जीव, परद्रव्य भोगता या न भोगता हुआ, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणामित हो तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान हो। इसलिये ज्ञानी को यदि बंध हो तो अपने ही अपराध के निमित्त से (स्वतः ही अज्ञानरूप परिणामित हो तब) बंध होता है।"

३:—निमित्तनैमित्तिक संबंध एक प्रकार का व्यवहार है। व्यवहार का अर्थ निम्नानुसार है:—

'तत्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारो जनोदितम्'

(छोटा द्रव्यसंग्रह, भुवनेन्द्र विश्व द्वारा अनुवादित; हिन्दी पृ० ३)

अर्थ:—निश्चय तो पदार्थ को जैसा है वैसा कहता है; व्यवहार लोगों के बोलने की रीत है। श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि—जिनमार्ग में किसी स्थान पर तो निश्चयनय की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना; और किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' ऐसा जानना। और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। परन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर—'इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है'—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

४:—'उपचार' का अर्थ यहाँ बतलाने की आवश्यकता है। समयसार १०६ में उसका दृष्टान्त देकर समझाया है, वह गाथा निम्न प्रकार है :—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

योद्धा करे जहाँ युद्ध वहाँ यह नृपने किये कहलात है।
ऐसे किये व्यवहार से ज्ञानावरण आदि जीवे ॥१०६॥

टीका:—जिस प्रकार युद्ध परिणामरूप स्वतः परिणमित होनेवाले—ऐसे योद्धाओं द्वारा युद्ध किये जाने से, स्वतः युद्ध परिणामरूप परिणमित न होने वाले—ऐसे राजा को 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा जो उपचार किया जाता है वह परमार्थ नहीं है, उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप परिणमित होने वाले ऐसे पुद्गल द्रव्य द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने से, स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप परिणमित न होनेवाले—ऐसे आत्मा को 'ज्ञानावरणादि कर्म किये'—ऐसा जो उपचार किया जाता है वह परमार्थ नहीं है।

५:—इसलिये 'निश्चयनय से जीव शरीर को नहीं चला सकता, खा नहीं सकता, पी नहीं सकता और बोल नहीं सकता; परन्तु व्यवहारनय से जीव शरीर को चला सकता है, खा सकता है, पी सकता है, बोल सकता है;' इन दोनों नयों के व्याख्यान को समान, सत्यार्थ मानकर जीव परका कर सकता है—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण नहीं होता। निश्चय को सत्यार्थ जानना और व्यवहार को 'सत्यार्थ नहीं है'—ऐसा जानना। मात्र अज्ञानिओं का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार (बोलने की रीति) होने से वैसा कहा है. ऐसा समझना चाहिये; उसे परमार्थ-सत्यार्थ नहीं मानना। तभी दोनों नयों का यथार्थ ग्रहण किया कहलाये।

व्यवहार के वचनों को ही निश्चय मानकर जो आत्मा को परद्रव्य का कर्ता माने वह मिथ्यादृष्टि है। (देखो श्री समयसार गाथा ३२४-३२७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : २७

निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है ? भाग—४

१:—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, इस नियम के विशेष आधार निम्नानुसार हैं :—

'यदि (पर पदार्थ) उसके परिणामित करने से परिणामित होता है तो जब वह ऐसा परिणमित न होता हो तब वह क्यों परिणामित नहीं करता ?' (श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ४)

'इसलिये निश्चित होता है कि—अपने करने से किसी भी पर पदार्थ का सद्भाव-अभाव नहीं होता।'

'लोक में सर्व पदार्थ तो अपने-अपने स्वभाव के कर्ता हैं कोई किसी का सुखदायक-दुःखदायक या उपकारी-अनुपकारी नहीं है।' (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ४)

'अनादि निधन वस्तु भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादापूर्वक परिणामित होती है, कोई किसी के आधीन नहीं है; वैसे ही कोई पदार्थ किसी के परिणामित करने से परिणमित नहीं होता।' (मोक्ष० प्रकाशक अ० ३)

'यह सब अपने-अपने आधीन होने से उसमें कोई आता है कोई जाता है, और कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होता है—इसप्रकार सबकी क्रिया अपने-अपने आधीन होने पर भी यह बावला उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।' (मोक्ष० अध्याय ३)

'किसी द्रव्य का परिणमन किसी के आधीन नहीं है।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि परद्रव्य का ग्रहण–त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता–हर्ता हो जाये, परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के अधीन है ही नहीं। आत्मा तो अपने रागादि भावों को छोड़कर वीतराग होता है।' (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७)

२:—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता इससे तो उसे अकिंचित्कर कहते हैं। जो हेतु कुछ भी न करे वह 'अकिंचित्कर कहलाता है। यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू पड़ता है, इससे जीव के अध्यवसान पर में 'अकिंचित्कर' होने से अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं, और इसीसे वह मिथ्या है। श्री समयसार गाथा २६७ संस्कृत टीका में निम्न सूत्र दिया है।

'परत्र अकिंचित्करत्वात्'

३:—निमित्त का अर्थ है संयोगरूप कारण; उपादान= अर्थात् वस्तु की सहज शक्ति। (बनारसी विलास पृष्ठ २२४ उपादान निमित्त की चिट्ठी) प्रत्येक द्रव्य स्वाधीन असहाय है, इतना ही नहीं परन्तु प्रत्येक द्रव्य के अनन्तगुणों में से प्रत्येक गुण स्वाधीन–असहाय है, इसलिये एक गुण दूसरे गुण का वास्तव में कुछ नहीं कर सकता। निमित्त उपादान को सहायक है, प्रभाव डालता है इत्यादि कथन वह व्यवहार अर्थात् बोलने की रीति है, वह सत्यार्थ नहीं है। निमित्त यदि जीव पर प्रभाव डालता हो तो जीव मुक्त हो ही नहीं सकता। जब वह जीव के प्रति प्रभाव डालना छोड़दे तब जीव की मुक्ति हो, इसलिये जीव की मुक्ति पराधीन हुई; ऐसा हो तो जब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह परजीव पर प्रभाव डालना चाहे तब उसे पुनः बिगाड़ दे और जीव पुनः संसारी हो जाये, यह अशक्यता आती है।

४:—प्रश्नः—यदि आप ऐसा कहोगे तो शास्त्रों का उपदेश 'मिथ्या नहीं बोलना, चोरी नहीं करना चाहिये, ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये—यह सब मिथ्या हो जायेगा ?

उत्तरः—जो दृष्टिकोणरूप नयों की पद्धति समझ ले उसे ऐसी शंका होती ही नहीं, क्योंकि उस उपदेश का अर्थ ऐसा होता है कि—'चोरी न करने का भाव करना, मिथ्या न बोलने का भाव करना इत्यादि' जीव का सच्चा भाव होने पर मिथ्या बोलने का अध्यवसाय छूट जाता है। जीव के भावों का और वचनादि का ऐसा निमित्तनैमित्तिक संबंध है कि उससमय मिथ्या वचन मुंह से निकलता ही नहीं, परवस्तु का ग्रहण होता ही नहीं, परस्त्री की ओर रागभाव होता ही नहीं, इससे व्यवहारनय से इसप्रकार शास्त्रों में कहा है। उपदेश और आज्ञा के वाक्य व्यवहारनय से ही लिखे और बोले जाते हैं; किन्तु समझनेवाले उनका परमार्थ समझे तभी व्यवहारनय कहलाता है। यदि वह वैसा न समझे तो उसके लिये वह कोई 'नय' ही नहीं है; क्योंकि उसने तो 'व्यवहारनय' के वचनों को 'परमार्थनय' का वचन माना है।

जीव के भाव को और परवस्तु को वैसा निमित्तनैमित्तिक संबंध है, यह नियम मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में निम्नानुसार दिया है:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं जानता, परन्तु अपने रागभाव को बुरा जानता है। स्वतः सरागभाव को छोड़ता है इससे उसके कारणों का भी त्याग होता है।'

इस विषय में ही दो दृष्टान्त नीचे दिये हैं:—

(१)जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्य पालन करने का दृढ़ निश्चय किया है, वह किसी मित्र को बुलाकर अपने लिये कन्या ढुँढ़ने का विकल्प करेगा ही नहीं। और इससे उस त्याग भाव और स्त्री त्याग का ऐसा संबंध है कि उसे स्त्री का संयोग होगा ही नहीं। कदाचित् कभी कोई स्त्री उसे परिषह देने आयेगी तो भी उसका भाव दृढ़ होने से एक दूसरे का मिलाप नहीं होगा।

ब्रह्मचर्य का भाव न करे तथापि स्त्री का संयोग नहीं होता—ऐसा तो बनता है, परन्तु ऐसा नहीं होता कि ब्रह्मचर्य का दृढ़ भाव हो और स्त्री के साथ संभोग हो जाये। यह नियम वचन, भोजन, परवस्तु का ग्रहण इत्यादि सब को लागू कर देना।

(२)एक सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ को चाय पीने की इच्छा हो तब नौकर से ऐसा नहीं कहा जाता कि:—

'मुझे चाय पीने की इच्छा हुई है, चाय परवस्तु है, मेरे पीने से नहीं पियी जायेगी, पेट में जाना होगी तो पहुँच जायेगी, तू मेरे लिये चाय लाने की इच्छा कर, हाथ हिलाने की इच्छा कर, हाथ को चलना होगा तो चलेगा, और चाय का प्याला मेरे पास आने योग्य होगा तो आयेगा।' यद्यपि वस्तु का स्वरूप तो वैसा ही है, तथापि आज्ञावचन में व्यवहारनय से इस शैलि से कथन का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग आता है कि—'चाय का प्याला लाओ' और फिर पेट में आने योग्य न हो तो नहीं भी आती। यह बात समाज में भी प्रचलित है इससे कहते हैं कि "There is many a slip between the cup and the lip" अर्थात् 'होठ और प्याले के बीच तो अनेक विघ्न हैं।' अनाज के संबंध में भी कहावत है कि 'दाने दाने पर मोहर है'

ज्ञानी जो स्वरूप कहते हैं वह जीव अव्यक्त रूप से बोलते हैं परन्तु उसका स्वरूप नहीं समझते।

व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करने में कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है, इससे श्री गुरु अनेक प्रकार से भेद कह कर व्यवहार द्वारा परमार्थ को समझाते हैं, व्यवहार परमार्थ को समझाने के लिये है। शुद्धनय भूतार्थ है, उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। उसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है तब तक आत्मा में ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता। (देखो समयसार गाथा ८ की टीका तथा ११ का भावार्थ।)

प्रश्नः—यदि जीव सत्य को समझेंगे तो सारी अव्यवस्था हो जायेगी? जैसे कि, एक मनुष्य खून करेगा और फिर कहेगा उसकी आयु पूर्ण हो गई है उसमें मैं क्या करूँ? इसलिये मुझे छोड़ दो।

उत्तरः—यहाँ 'सत्य' पर बिल्कुल झूठा आरोप बिना समझे लगाया गया है वह उदाहरण में ही बताया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को मार डाला—ऐसा आरोप हो तब न्यायाधीश यह देखता है कि-आरोपी का क्या इरादा था। यदि उसे मार डालने का ध्येय सिद्ध हो जाये तो फाँसी की सजा होती है; और यदि मार डालने का ध्येय न हो और असाव-धानी से उसका खून हुआ हो तो उस अपराध को छोटा गिनकर उसके अनुसार सजा होती है। एक आदमी को मारने में अधिक व्यक्ति हों तो प्रत्येक का तो मार डालने का सामान्य ध्येय होता है तो प्रत्येक पर हत्या करने का समान दायित्व आता है; यदि वह पृथक्-पृथक् ध्येय से हो तो उसप्रकार से न्याय होता है। जैसे कि एक मनुष्य ने दूसरे को अपने बचाव (Right of self defence.) की दृष्टि से मारा हो तो वह छूट जाता है, और दूसरे जो मारने में शामिल होते हैं उन्होंने यदि द्वेष बुद्धि से उसे मारा हो तो अपने ध्येय के अनुसार दायित्व-होते हैं। उपरोक्त प्रश्न संसार व्यवहार की रीति की अज्ञानता बतलाता है, इसीसे वीतराग आज्ञा है कि शास्त्र के या अन्य वचनों को प्रमाण-नय आदि से समझना, और उनकी परीक्षा करके सत्य-असत्य का निर्णय करना चाहिये। उस प्रकार समझे बिना निषेध नहीं करना चाहिये। यह निषेध तो महामिथ्यात्व की पुष्टि करता है।

अब धर्मदृष्टि से उसका विचार करते हैं; मनुष्य मरा उससे बंध नहीं है, क्योंकि उसकी आयु पूर्ण होने के कारण मरा है, परन्तु जीव ने द्वेष किया उसका बंध है, इससे वह तो महा पाप भाव है। यह स्पष्टीकरण मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ में निम्न-प्रकार किया है:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः—हमारे परिणाम शुद्ध हैं, बाह्य त्याग नहीं किया तो उससे क्या ?

उत्तरः—यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम के बिना स्वयं होते हों [अर्थात् उन्हें निमित्तनैमित्तिक भाव का संबंध न हो तो, तो बराबर है; परन्तु भाव का और हिंसा का वैसा (निमित्तनैमित्तिक) संबंध है] तो हम ऐसा ही मानें, परन्तु तू अपने परिणामों द्वारा कार्य करता है तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध किसप्रकार कहें ? विषयसेवनादि क्रिया या प्रमादगमनादि क्रिया परिणाम बिना किस प्रकार होती है ? यह क्रिया तो तू स्वतः उद्यमी होकर करता है तथा वहाँ हिंसादिक होते हैं उन्हें तो तू गिनता नहीं है और परिणाम शुद्ध मानता है, परन्तु इसप्रकार मानने से तो तेरे परिणाम अशुद्ध ही रहेंगे।

प्रश्नः—परिणामों को रोकने से बाह्य हिंसादिक न हो परन्तु प्रतिज्ञा करने में तो बंधन होता है, इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत सम्यग्दृष्टि जीव को अङ्गीकार करना चाहिये या नहीं ?

उत्तरः—जो कार्य करने की आशा हो उसकी प्रतिज्ञा नहीं ली जाती, और आशा रहे तो उससे राग भी रहता है तथा इस राग भाव से कार्य किये बिना भी अविरतिका बंध होता ही रहता है, इसलिये [तत्त्वज्ञान सहित] प्रतिज्ञा करना योग्य है। और (दृढ़ प्रतिज्ञारूपी कार्य करने का बंधन हुए बिना पाप परिणाम किस प्रकार रुकेंगे ? प्रयोजन पड़ने से तद्रूप प रणाम अवश्य हो जाता है, और प्रयोजन पड़े बिना भी उसकी आशा रहती है, इसलिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिज्ञा करना योग्य है। आत्मस्वरूप को समझकर, प्रतिज्ञा का स्वरूप समझकर प्रतिज्ञा करना योग्य है, नहीं तो "Cart before the horse" (गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे) जैसी अवस्था होती है। सच्चा समझने से जगत में सुख मिलेगा।

मिथ्या स्वरूप समझने से जीव सुखी होता है यह मान्यता न्यायविरुद्ध है।

प्रकरण : २८

निश्चयव्यवहार के प्रश्न और उनके अर्थ।

१:—प्रश्नः—परन्तु आप जो उपरोक्तानुसार कहते हैं, वह तो एकान्त निश्चय-कथन है, व्यवहारनय आता ही नहीं ?

उत्तरः—नहीं, व्यवहारनय उसी में आता है; तुम जो कहते हो उसमें तो व्यवहारनय के वचनों को निश्चयनय के वचन मानते हो इससे नय कुनय का दोष—अर्थात् मिथ्याज्ञान आता है, जब इस कथन में यथार्थ व्यवहारनय आता है। 'व्यवहारनय' के वचनों को सच्चा न मानकर उसमें से परमार्थ समझना ही व्यवहारनय है। 'व्यवहारनय' के वचन जैसे हैं वैसा ही उन्हें सच्चा मानने से तो 'व्यवहारनय' के वचन निश्चयनय के वचन हो जायेंगे, और वैसा होने से वीतराग आज्ञा का लोप होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय का अर्थ

२:—निश्चय, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ—यह एकार्थवाची शब्द हैं; उनके अर्थ नीचे दिये जाते हैं :—

(१) निश्चय=यथार्थ (मोक्ष० प्रकाशक अध्याय ७)

(२) निश्चय शुद्धनय है—भूतार्थ है, क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का यथावत् निरूपण करता है।

(३) एक ही द्रव्य के भाव को उसी स्वरूप से निरूपण करना सो निश्चयनय है।

(४) शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है, इसलिये उसे निश्चय कहा है; 'शुद्ध' शब्द का अर्थ स्वभाव से अभिन्न, पर-भाव से भिन्न होता है।

(५) जिस द्रव्य की परिणति हो उसे उसीका प्ररूपित करना वह निश्चयनय।

(६) निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

(७) निश्चयनय यथावत् निरूपण करता है और किसी को किसी में एकमेक नहीं करता।

(८) निश्चय का व्याख्यान 'वह सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना।

(९) निश्चय को सत्यभूत मानकर 'वस्तु ऐसी ही है' ऐसा श्रद्धान करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१०) वस्तु को यथावत् प्ररूपण करे उसका नाम निश्चय है। (मोक्षमार्ग प्र० अध्याय ७)

(११) स्वभाव से उत्पन्न जो अनन्त ज्ञानादिगुण हैं उनका आधारभूत निज परमात्म द्रव्य जो उपादेय है वह निश्चयनय है। (द्रव्य संग्रह, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला पृष्ठ २९)

(१२) आत्माश्रित निश्चयनय है। (समयसार गाथा २७२)

(स्व, स्वाश्रय और स्व–स्ववस्तु में अभेदपना है उसी का कथन करे–जाने वह निश्चयदृष्टि है।)

व्यवहार के अर्थ

३:—अब व्यवहार के अर्थ दिये जाते हैं:—

(१) व्यवहार अर्थात् उपचार।

(२) व्यवहारनय सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, परन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है।

(३) द्रव्य के भाव को उपचार से अन्य द्रव्य के भावरूप निरूपित करना वह व्यवहारनय है।

(४) व्रत–तपादि कुछ मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से उन्हें व्यवहार कहा है।

(५) एक द्रव्य की परिणति को ही अन्य द्रव्य का प्ररूपित करना वह व्यवहार है।

(६) व्यवहारनय द्वारा जो निर्णय किया हो उसे असत्यार्थ मानकर (परमार्थ समझकर) उसका श्रद्धान छोड़ देना चाहिये। (मोक्षमार्ग प्रका० अ० ७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को तथा कारण-कार्यादि को किसी का किसी में एकमेक करके व्यवहार निरूपण करता है।

(८) व्यवहार की मुख्यता के व्याख्यान को 'ऐसा नहीं है परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है'—ऐसा जानना सो व्यवहारनय है।

(९) व्यवहार को उपचार मात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु का बराबर (परमार्थ) निर्णय करना; परन्तु यदि निश्चय की भाँति व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु ऐसी ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो वह अकार्यकारी है।

(१०) व्यवहारावलम्बी जीव ऐसा मानता है कि 'यथायोग्य व्रतादि क्रिया करना योग्य है परन्तु उसमें ममत्व नहीं करना।' जिसका स्वतः कर्ता होगा उसमें ममत्व कैसे नहीं करे ? यदि स्वतः कर्ता नहीं है तो 'मुझे करना योग्य है'—ऐसे भाव किसप्रकार किया ? (मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७)

(११) इन्द्रियों के सुखादि परद्रव्य हेय हैं, यह व्यवहार-नय है। (बड़ा द्रव्यसंग्रह, रायचंद्र जैन शास्त्रमाला मुद्रित पृ० २६)

(१२) पराश्रित=व्यवहारनय (समयसार गाथा २७२)

[व्यवहार अर्थात् निमित्त की मुख्यता से कथन होता है-कार्य नहीं, कार्यरूप तो स्वयं उपादान होने से वही परिणमता है, वही कर्ता है अतः परका ग्रहण-त्याग का कथन आता है उसका अर्थ ऐसा नहीं है।]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४:—इससे सिद्ध हुआ कि जीव अँगुली भी ऊपर नहीं उठा सकता। अँगुलीकी अवस्था अपने पुद्गलके स्वभावसे परिणमित होने योग्य हो तब एक विकारी जीवकी इच्छा वहाँ होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध जानकर जीवने अँगुली ऊँची की—ऐसा कहा जाता है, जो इसप्रकार कथन पद्धति मात्र है—यथार्थ स्वरूप नहीं है। बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की संस्कृत टीकाके पृष्ठ १९ में इस सम्बन्धमें निम्नप्रकार लिखा है :—

'परन्तु शुद्ध-अशुद्ध भावोंका जो परिणमन है उसका कर्तृत्व जीवमें जानना चाहिये, और हस्तादिके व्यापाररूप परिणमनका नहीं समझना चाहिये।

संस्कृत टीका में उसी पृष्ठ में निम्न प्रकार लिखा है :—

'किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानामेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति'।

५:—(१) तत्वार्थसूत्र के अध्याय ६ (आस्रव अधिकार) के पाँचवें सूत्र में पच्चीस प्रकार की क्रिया सांपरायिक आस्रव के रूपमें बतलाई है; उसकी टीका में कितनी ही शरीर की क्रिया भी बतलाई है। यह भेद व्यवहार से अर्थात् निमित्त से है; उस व्यवहारनय का नाम असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। जड़ क्रिया स्वतः आस्रव नहीं है परन्तु निमित्त की भाषा है; वह भी असद्भूत (यथार्थ नहीं) ऐसा कहने का आशय है। वास्तव में (निश्चय से) उस क्रिया के पीछे जीव के प्रदेशों का जो कम्पन है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह आस्रव है। बंध तो अध्यवसाय से होता है। इसप्रकार निश्च
और व्यवहार का स्वरूप समझना।

(२) 'नय' श्रुतज्ञान का अंश है, सम्यग्दृष्टि के श्रुतज्ञान
होता है (मिथ्यादृष्टि के कुश्रुत है) इससे नय भी सम्यग्दृष्टि के ही
होते हैं, दोनों नय साथ ही होते हैं।

अज्ञानीकी निश्चय तथा व्यवहारकी समझका स्वरूप

(३) ज्ञाता तो मोक्षमार्ग को साधना जानते हैं, परन्तु
मूढ़ मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानते। किसलिये ? वह सुनो :-

मूढ़ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहते हैं और अध्यात्म
पद्धति को निश्चय कहते हैं, इससे वे आगम अंग को एकान्तरूपसे
साधकर मोक्षमार्ग दर्शाते हैं, अध्यात्म अङ्गको व्यवहारसे भी नहीं
जानते, यह मूढ़दृष्टि जीवों का स्वभाव है। उन्हें इस प्रकार सूझेगा
ही कहाँ से ? क्योंकि आगम अंग बाह्य क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण
है उसका स्वरूप साधना उन्हें सुगम है, वे बाह्य क्रिया करते हुए
मूढ़ जीव अपनेको मोक्षमार्गका अधिकारी मानते हैं, परन्तु अन्तर्गर्भित
अध्यात्मरूप क्रिया जो अन्तर्दृष्टिग्राह्य है उस क्रिया को मूढ़ जीव
नहीं जानते; क्योंकि अन्तर्दृष्टिके अभावसे अन्तर क्रिया दृष्टिगोचर
नहीं होती; इससे मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ
हैं। (देखो, बनारसी विलास श्री परमार्थ वचनिका पृष्ठ २१६)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : २९

जीव की अनादि से चली आ रही भूलें।

१:—सात भूलों का वर्णन :—

(१) शरीर सो मैं। (जीव तत्त्वकी भूल)

(२) शरीर की उत्पत्ति से आत्मा का जन्म और शरीर के वियोग को आत्मा का मरण मानते हैं। (अजीवतत्त्व की भूल)

(३) मिथ्यात्व, रागादि प्रगट दुःख करने वाले होने पर भी उनका सेवन करने में सुख मानता है। (आस्रव तत्त्व की भूल)

(४) शुभ बंधके फलमें रति, और अशुभ बंधके फलमें अरति मानते हैं। (बंध तत्त्व की भूल)

(५) आत्मा के हितके लिये सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना, और सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य (राग-द्वेष का अभाव) कष्ट देने वाला मानता है। (संवरतत्त्व की भूल)

(६) अपनी आत्मशक्ति गँवाकर पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छाओं को न रोकना अच्छा मानता है। (निर्जरा तत्त्व की भूल)

(७) निराकुलता मोक्षरूप है ऐसा नहीं मानता। मोक्ष तत्त्व की भूल, श्री दौलतरामजी कृत छहढाला के आधार से)

२:—इन भूलों का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। और वह अनादि से है, वह किसी के सिखाने से नहीं हुआ है, इससे उसे निसर्ग मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३:—जीव और आत्मा का एक ही अर्थ लिया जाता है।

४:—इन भूलों को दूर करना वह सम्यग्दर्शन है, जीव को वह अनादि से प्रगट नहीं हुआ है इसलिये प्रथम वह गुण प्राप्त करना चाहिये। वह पूर्व में किसी समय प्रगट नहीं हुआ है इसलिये जब प्रगट होता है तब वह 'अपूर्व' कहलाता है, उसकी रीति भी अपूर्व होना चाहिये। जीव इस मनुष्य भव में यदि यह कार्य न करे तो उसका संसार (दुःख) रहना ही है।

'संसार' का अर्थ है अपनी शुद्धता में से भलीभाँति च्युत हो जाना हट जाना; स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी या बाह्य की कोई वस्तु संसार नहीं है।

५:—इसलिये 'अपना स्वरूप प्रथम समझना' ऐसा अनंत ज्ञानिओं ने कहा है। प्रथम पैरे में कही हुई भूलें दूर हों तभी जीव सुख प्राप्त करे। श्री आत्मसिद्धि शास्त्रको प्रारम्भ करते ही प्रथम गाथा में निम्न शब्दों में कहा है :—

'जो स्वरूप समझे बिना पायो दुःख अनंत;
समजाया उन पद नमूं श्री सद्गुरु भगवंत।१।

स्वरूप न समझने का फल अनन्त दुःख है, इससे ऐसा हुआ कि स्वरूप समझने का फल अनन्त सुख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ३०

जीव के अनादि के सात व्यसन ।

१:—सात भाव व्यसन जीव को अनादि के हैं, उन्हें दूर करने पर आत्मा जाना जाता है, इसलिये उसका स्वरूप यहाँ लिखा है:—

२:—सप्त भाव व्यसनों का स्वरूप

(सवैया इकतीसा)

अशुभ में हारि शुभ जीति यहै दूत कर्म,
देहकी मगनताई यहै मांस भखिवौ ।
मोहकी गहलसौं अजान यहै सुरापान,
कुमति की रीति गनिका कौ रस चखिवौ ॥
निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारी संग परबुद्धि कौ परखिवौ ।
प्यार सौं पराई सौंज गहिवेकी चाह चोरी,
एइ सातौं विसन विडारैं ब्रह्म लखिवौ ॥२९॥

(देखो समयसार–नाटक साध्यसाधक द्वार)

३:—अर्थः - (१) अशुभ में (पाप में) हार और शुभ में जीत यह जुआकर्म है। (२) देह को अपना मानकर उसमें लीन रहना वह माँस भक्षण है। (३) मिथ्यात्व के पागलपन से स्व स्वरूप की अज्ञानता वह मदिरापान है। (४) कुमति की रीति वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेश्या का रस चखना है। (५) स्व के प्रति निर्दय होकर अपना भाव मरण करना वह शिकार है। (६) पर में आत्मबुद्धि रखना वह पर नारी का संग है। (७) अनुरागपूर्वक पर पदार्थ को ग्रहण करने की अभिलाषा वह चोरी है; ऐसा समझ लेना।

आत्मस्वरूप को जानने पर इन सात व्यसनों का नाश होता है:—

४:—लौकिक सात व्यसन छूट जायें वह शुभ भाव है, अनेक जीव उन्हें छोड़ते हैं; परन्तु यह सात भावव्यसन जीव को अनादि के स्मरणरूप हैं। स्वरूप प्राप्ति वह स्वीकृतरूप (अस्तिरूप) लाभ है और इन भाव व्यसनों का दूर होना वह अस्वीकृतिरूप (नास्तिरूप) लाभ है। स्व की 'अस्ति' जाने बिना पर (विकार) की 'नास्ति' नहीं होती।

५:—इसलिये आत्माका सर्वोत्कृष्ट प्रथम कार्य सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना ही है; क्योंकि प्रथम मिथ्यात्व जाता है, उसके जानेपर चौथा गुणस्थानक प्रगट होता है, पश्चात् 'अविरति' जाती है, उसके जानेपर आंशिक निश्चय धर्म सहित दो कषाय रहित श्रावकपना प्रगट होता है, पश्चात् स्वसन्मुखताके द्वारा आत्मा विशेष बलवान हो जाये तब भाव साधुता निर्ग्रन्थ दशा होती है, पश्चात् 'कषाय' जाती है, उसके जानेपर पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है, अन्तमें 'योग' (योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंका कम्पन-परिस्पंदन) जानेसे अयोगी स्वभाव प्रगट होता है, उसका फल सिद्धत्व है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ३१

सत्य पुरुषार्थ

१:—आत्मामें 'वीर्य' नामक गुण है, इसलिये जीव अनादिसे पुरुषार्थ करता हैं, परन्तु वह शुभ-अशुभ भावमें करता है इससे ज्ञानी उसे असत्य पुरुषार्थ कहते हैं। जीव, परका कर सकता हूँ—ऐसा मानकर पुरुषार्थ करता है वह असत्य पुरुषार्थ है। शरीर पर है क्योंकि वह अनन्त पुद्गलोंका पिण्ड है, उसमें जीवका पुरुषार्थ नहीं चल सकता, तथापि उसमें उपाय करना वह असत्य पुरुषार्थ है; मिथ्यात्व राग-द्वेष टालने योग्य है इससे जो उसे टालनेका पुरुषार्थ करता है उसका पुरुषार्थ सत्य है।

२:—श्री प्रवचनसार अध्याय १ की गाथा ८८ में निम्न-प्रकार कहा है:—

"यद्यपि मोहका नाश करनेका उपाय जिनेश्वरका उपदेश है, परन्तु उसकी प्राप्ति होनेपर भी पुरुषार्थ कार्यकारी है इसलिये उद्यमको दिखाते हैं:—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम्
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ८८ ॥

३:—अर्थः—जो पुरुष वीतरागप्रणीत आत्मधर्मके उपदेश को प्राप्त करके मोहरागद्वेष भावोंका घात करता है वह बहुत ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थोड़े कालमें सम्पूर्ण दुःखोंसे भिन्न (पृथक्) अवस्थाको प्राप्त होता है।

भावार्थः—इस अनादि संसारमें, किसी एक प्रकारके तलवारकी धारके समान जिनप्रणीत उपदेशको प्राप्त करके जो मोह राग द्वेषरूप शत्रुओंको मारता है वह जीव शीघ्र ही सर्व दुःखोंसे मुक्त होकर सुखी होता है, जिसप्रकार सुभट तलवारसे शत्रुओंको मारकर सुख से बैठता है। इससे मैं सर्वप्रकारसे उद्यमी होकर मोहका नाश करनेके लिये पुरुषार्थमें सावधान होकर बैठा हूँ।

४:—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ९ में इस संबंध में निम्नानुसार कहा है:—

प्रश्नः—मोक्ष का उपाय काल लब्धि आने से भवितव्य के अनुसार बनता है कि मोहादिक का उपशमादि होने से बनता है, या अपने पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करने से बनता है ? वह कहो। यदि पहले दो कारण मिलने से बनता है तो आप हमें उपदेश किसलिये देते हो ? तथा यदि पुरुषार्थ से बनता है, तो सभी उपदेश सुनते हैं, तथापि उनमें कोई पुरुषार्थ कर सकता है और कोई नहीं कर सकता—उसका क्या कारण है ?

मोक्ष साधनमें पुरुषार्थ की मुख्यता

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ९)

उत्तरः—एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों कारण मिलते हैं तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं बनता वहाँ यह तीनों कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे हैं उनमें काललब्धि और भवितव्य तो कोई वस्तु ही नहीं है; जिस कालमें कार्य बने वही काललब्धि और जो कार्य हुआ हो वही भवितव्य। और कर्मके उपशमादिक हैं वह तो पुद्गलकी शक्ति है, उसका कर्ताहर्ता आत्मा नहीं है, तथा पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम किया जाता है वह आत्माका कार्य है इसलिये आत्माको पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करनेका उपदेश देते हैं। जिस कारणसे कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम यह आत्मा करे वहाँ अन्य कारण अवश्य मिलते ही हैं और कार्यकी सिद्धि भी अवश्य होती है। जिनमतमें जो मोक्षका उपाय कहा है उससे तो मोक्ष अवश्य होता ही है; इसलिये जो जीव जिनेश्वरके उपदेशके अनुसार पुरुषार्थ पूर्वक मोक्षका उपाय करते हैं उनके तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके हैं तथा कर्मके उपशमादि हुए हैं तभी तो वे ऐसा उपाय करते हैं, इसलिये जो पुरुषार्थ पूर्वक मोक्षका उपाय करते हैं उन्हें सर्व कारण मिलते हैं, और अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा निश्चय जानना। तथा जो जीव पुरुषार्थ पूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करता उसके तो काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है और कर्मके उपशमादि नहीं हुए हैं। इसलिये जो पुरुषार्थ पूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करता उसे तो कोई भी कारण नहीं मिलते और इससे मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा निश्चय करना।

और तू कहता है कि—'उपदेश तो सभी सुनते हैं तथापि कोई मोक्षका उपाय कर सकता है और कोई नहीं कर सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसका क्या कारण है ? उसका कारण यह है कि—जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करता है वह तो मोक्षका उपाय कर सकता है परन्तु जो पुरुषार्थ नहीं करता वह मोक्षका उपाय नहीं कर सकता। उपदेश तो शिक्षा मात्र है; फल तो जैसा पुरुषार्थ करता है वैसा मिलता है।

५:—श्री आत्मसिद्धि शास्त्रमें भी वैसा ही कहा है :—

"जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ,
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहीं आत्मार्थ।"१३०

इसलिये सुपात्र जीवको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति और शुद्धता प्राप्त करनेके लिये सत्य पुरुषार्थ करना चाहिये।

प्रकरण : ३२

सम्यक् तपका स्वरूप भाग—१

१:—करमचंद:—मेरा छोटा भाई कहता है कि यदि हम चौबीस घंटे तक रोटी न खायें, पानी न पियें तो अपनेको धर्म हो?

२:—ज्ञानचंद:—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि वैसा हो ही नहीं सकता। आपने कहा वैसा हो और उसमें शुभभाव रखें तो उस शुभभाव द्वारा पुण्यबंध होता है—धर्म नहीं होता; क्योंकि धर्म तो अबंध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्द:—परन्तु छोटा भाई कहता है कि—पहले जो मैंने बतलाया था वैसा करें तो तप हो; और तपसे निर्जरा हो, ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। इसलिये तुम्हारे बड़े भाईकी भूल तो नहीं है न ?

ज्ञानचंद:—मैंने अपने बड़े भाईके साथ इस बात पर बहुत चर्चा की है; वे तो कहते हैं कि तपसे निर्जरा होती है वह बात सत्य है परन्तु वह सम्यक् (यथार्थ) या असम्यक् ? ऐसा मुझसे पूछा, तो मैंने विचार करके उत्तर दिया कि वह सम्यक् तप ही होना चाहिये।

करमचन्द:—मेरा छोटा भाई कहता है कि, भाई देखो ! अपनेको भोजन-पानी सब कुछ मिला है, और हम स्वतः भोजन-पानी अपनी शक्तिसे अपने वशसे छोड़ें तो उससे धर्म हो, सम्यक् तप हो। जिसे खानेको न मिले इससे विवश होकर भोजन न करे तो उसे धर्म नहीं होता।

ज्ञानचन्द:–अरे ! मेरे बड़े भाई कहते हैं कि—तप सम्यग्दृष्टिके होता है दूसरोंके नहीं। आपका छोटा भाई जो कहता है उसे भगवानने सम्यक् तप नहीं कहा है; और उसकी व्याख्या 'इच्छा निरोधः तपः' ऐसी करते हैं, तथा उसमें वह बात नहीं आती जो आप कहते हैं—इसलिये वह तप नहीं है।

करमचन्द:—मेरा छोटा भाई कहता है कि देखो ! उसमें रोटी खाने और पानी पीनेकी इच्छा रोकी, इसलिये उस व्याख्याके अनुसार तो यथार्थ तप हुआ ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्द:—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि देखो ! उसमें रोटी न खानेकी इच्छा की, इसलिये इच्छा तो आयी; इससे उसे तप नहीं कहा जाता; परन्तु शुभभाव हो तो वह पुण्य कहलाये। मुझे वह बात सत्य प्रतीत होती है।

३:—करमचन्द:—मेरा छोटा भाई कहता है कि, अरे! यह बात तो केवलियोंको लागू होती है, हम अपूर्ण प्राणियोंको लागू हो सकती है ?

ज्ञानचन्द: —मेरे बड़े भाई कहते हैं कि केवलीके तप नहीं होता। तप तो साधक—अपूर्ण दशामें होता है।

करमचन्द:—तब फिर अपूर्णदशामें शुभ और अशुभ दोनों इच्छाएँ कैसे रुकें ? यह तो समझमें नहीं आता।

ज्ञानचन्द:—मैं अपने बड़े भाईसे पूछकर, बराबर समझकर फिर आपको उत्तर दूँगा। हम लोगोंने आज सुन्दर चर्चा की है; आप कहोगे तब फिर मिलेंगे। ऐसा कहकर दोनों चले गये।

प्रसंग—दूसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

४:—करमचन्द:—क्यों भाई ! तप सम्बन्धी चर्चा आगे चलाना है ? आपने अपने भाईके पास बराबर समझ लिया है ?

ज्ञानचन्द: —हाँ, लेकिन अपना विषय आगे चलानेसे पहले मुझे आपसे दूसरा कुछ जानना है, इसलिये आप कहो तो पूछूँ।

करमचन्द:—खुशीसे पूछिये !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्द: —आप तो बड़े हो, फिर अपने छोटे भाईसे आप धर्मकी बातें क्यों पूछते हैं ?

करमचन्द: —मेरा छोटा भाई उत्साही युवक है। और वह धर्म संगठनमें विश्वास रखता है, धर्मकी जानकारी भी उसे है—ऐसी उसकी समाजमें प्रतिष्ठा है और वह बुद्धिमान है। उसकी उम्र छोटी है, यह बात सच है, परन्तु आयुका बुद्धिमत्ताके साथ संबंध नहीं है, इसलिये मैं उससे पूछता हूँ।

ज्ञानचन्द:—आपका कहना ठीक है; अब अपने विषयको आगे चलाइये !

५:—करमचन्द —साधक अवस्थामें शुभ और अशुभ इच्छा कैसे दूर होती होगी ? यह आप मुझे समझाइये !

ज्ञानचन्द:—देखो भाई ! भगवानने कहा है कि:—'सर्व जीव सिद्धसम, जो समजे वह होत।' इस परसे ऐसा निश्चित हुआ कि प्रथम, जीव स्वत: 'शक्तिरूपमें सिद्ध सम' किसप्रकार है—उसे समझना चाहिये; जो समझले वह प्रथम श्रद्धामें पश्चात् चारित्रमें 'इच्छा रहित' हो जाये।

करमचन्द:—ठीक, लेकिन इस वस्तुका स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, क्योंकि आपने कहा उसमें भी जीवको अपना स्वरूप समझनेकी इच्छा करना तो आया ?

ज्ञानचन्द:—सुनो भाई ! इच्छारहित होनेकी रीति आपसे कहूँ। वह रीति यह है कि—जब जीव अपना ज्ञानमय स्वरूप तीनों काल इच्छारहित सुखसे पूर्ण है उसे समझनेके लिये पुरुषार्थ करे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब प्रथम राग (–इच्छा) आता है। परन्तु जीवको 'मेरा नित्य स्वरूप चेतनामय है और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है'—ऐसा निश्चित् करना चाहिये; वह निश्चित् करनेसे रागमिश्रित विचार आते हैं, परन्तु राग मेरा कार्य नहीं है, न करने योग्य है और वह राग मेरा नहीं है—ऐसी प्रतीति की उससे स्वतः अंशतः विमुख हो सकता है।

६:—करमचन्दः—यह ठीक है, किन्तु इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है—इतना ही निश्चित् करे तो चले या नहीं ?

ज्ञानचन्दः—नहीं चल सकता; क्योंकि अपना 'स्वीकृत' [POSITIVE] स्वरूप जबतक समझमें न आये तबतक 'अस्वीकृत' [NEGATIVE] स्वरूप समझमें नहीं आता; उसे दूसरे प्रकारसे कहें तो जबतक जीव अपना 'अस्ति' स्वरूप न जाने तबतक 'नास्ति' स्वरूप यथार्थतया नहीं जानता। यथार्थ जाननेसे 'अस्ति-नास्ति' बराबर समझमें आते हैं और जबतक दोनों पक्ष समझमें नहीं आते तबतक अपना अस्तित्व बराबर समझमें नहीं आता, न स्वसन्मुख हो सकते।

७:—करमचन्दः—इस बातको मैं स्वीकार करता हूं, लेकिन उसमें 'इच्छा निरोध' किसप्रकार हुआ ?

ज्ञानचन्दः—वह इसप्रकार हुआ कि—जिसने अपना त्रैकालिक स्वतंत्र अस्तित्व निश्चित् किया, उसने ऐसा निश्चित किया कि मैं अपनेरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ। जीवका अपना रूप वह चैतन्य स्वभाव है,—ऐसा वह समझले, तब स्वतः पररूप नहीं है अर्थात् जड़रूप नहीं है; 'इच्छा'रूप नहीं है, ऐसा भी निश्चित किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्द:—आपकी यह बात सत्य है, किन्तु उसमें भी इच्छाका अस्तित्व तो है ?

ज्ञानचन्द:—भाई ! आपका प्रश्न बराबर है, परन्तु मैंने अपना कथन पूर्ण नहीं किया है, आपको शंका हुई और प्रश्न पूछा वह बराबर है, परन्तु यदि मेरा कथन क्रमशः सुनोगे तो उसमें तुम्हारी बातका स्पष्टीकरण आ जायेगा, इसलिये अब मैं अपना विषय आगे चलाऊँ ?

करमचन्द:—भाई, अब समय हो चुका है, कल फिर मिलेंगे।

ज्ञानचन्द:—अच्छी बात है, जब समय मिले तब चर्चा करेंगे।

[दोनों चले जाते हैं]

प्रसंग—तीसरा

[दोनों मित्र फिर मिलते हैं]

द:—करमचन्द:—भाई ! अपना सम्यक् तपका विषय आज आगे चलाइये।

ज्ञानचन्द:—अच्छी बात है, मैं कहूँ उसे बराबर ध्यानमें रखना। मैंने तुम्हें पहले कहा था कि—जीवको अपना 'अस्ति' और 'नास्ति' स्वरूप प्रथम निश्चित करना चाहिये, और अपना अस्ति-स्वरूप निश्चित करनेसे 'इच्छा' मेरा स्वरूप नहीं है वह क्षणिक है, उसे त्रैकालिक अरागस्वरूपके आश्रय द्वारा दूर करनेसे ही दूर हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकती है। इसप्रकार प्रथम राग सहित विचारमें ज्ञानस्वरूप निश्चित करते हैं, पश्चात् जीव जब अपना उपयोग परद्रव्य, भेद और रागादि परके ऊपरसे हटाकर अपने त्रिकाली 'अस्ति' स्वरूपकी ओर उन्मुख करता है तब उसे अपने स्वरूपकी प्रतीति प्रगट होती है, और मैं त्रिकाली शुद्ध अखण्ड चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी भावभासन-रूप दृढ़ प्रतीति होनेसे राग (इच्छा) होनेपर भी उसपरका स्वामित्व अभिप्रायमेंसे निकल जाता है, क्यों समझे ?

करमचन्दः—हाँ; विचार करनेसे यह बात समझमें आती है, और मैं उसे सत्य मानकर स्वीकार करता हूँ। अब, आगे कहिये।

६:—ज्ञानचन्दः—ऊपर कहे अनुसार जिस जीवको यथार्थ प्रतीति होती है, वह जीव अपनी प्रतीतिका अधिकाधिक मंथन करता रहता है, तब उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। वैसे सम्यग्दृष्टि जीवको गृद्धिता नहीं होती, और वह प्रतिसमय परावलम्बनको दूर करनेके लिये तत्पर रहता है। इससे शक्तिके अनुसार तप करने-का विचार करके चौबीस घंटे तक आहार न लेनेकी प्रतिज्ञा भी करता है, उस समय उसकी मान्यता निम्नानुसार होती है:—

(१) आहार न लेनेका जो रागमिश्रित विचार आता है वह शुभभाव है; और उसका फल पुण्यबंध है। वह हेय होनेसे पर होनेसे मैं उसका स्वामी नहीं हूँ।

(२) आहार-पानी परवस्तु होनेसे उसे छोड़ना या त्यागना वह मेरा अधिकार नहीं है; परन्तु जब सम्यग्दृष्टि चारित्रमें बलवान होता है तब परवस्तु ऊपरका आलंबन छोड़ना निश्चित करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब निमित्त-नैमित्तिक संबंध (पुद्‌गलपरावर्तनके नियमानुसार) ऐसा होता है कि-उतने समयतक उसे आहार-पानीका संयोग नहीं होता। आहार-पानीका संयोग नहीं हुआ इससे धर्म भी नहीं होता और बंध भी नहीं होता।

(३) रागके अस्वामित्वका मेरा जो अभिप्राय है वह दृढ़ होता है; और इससे जो आहारादि लेनेका अशुभ राग सच्चे अभिप्राय पूर्वक दूर किया वह धर्मका अंश है अर्थात् वीतरागताका अंश है; और आहार न लेनेके शुभ विकल्पका स्वामित्व नहीं है। अंश है। इससे उतने अंशमें शुभाशुभ इच्छाका निरोध हुआ उतना भावसम्यक् तप है।

१०:—करमचन्दः—आपने जो कहा वह वस्तु गहरा मंथन चाहती है। मनन करनेका मुझे अभ्यास है इसलिये मैं बराबर मनन करूंगा। वह बात बराबर है या नहीं उसकी परीक्षा करके निश्चित् कर लेना चाहता हूँ।

ज्ञानचन्दः—आपकी इस बातका मैं अनुमोदन करता हूँ, क्योंकि, भगवानकी आज्ञा भी ऐसी ही है कि जो कोई तत्त्वकी बात प्रतिपादन करे उसका सभी पक्षोंसे विचार करके, परीक्षा करके, निर्णय करे तभी जैनधर्मका यथार्थ स्वरूप समझमें आता है। इसलिये आप बराबर विचार करके अपना निर्णय बतलाना। हम फिर मिलेंगे।

(ऐसा कहकर दोनों चलते हैं)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसंग—चौथा

११:—करमचन्द:—भाई, आपने कहा वह मैंने अच्छी तरह सोच-विचार लिया है, बिल्कुल ठीक मालूम होता है। सर्व-प्रकारकी इच्छाका स्वामित्व अभिप्रायमेंसे निकल गया होनेसे चारित्रके दोष जितनी इच्छा रही थी; उसमें आहार-पानी न लेनेकी प्रतिज्ञा द्वारा जो शुभविकल्प हुआ, उसकी जो अस्वीकृति वर्त रही है, और जो आहार लेनेके अशुभभावको रोका उस शुभाशुभ इच्छाका अंशतः निरोध हुआ, और इससे वह सम्यक् तप हुआ, ऐसा बराबर समझमें आगया; परन्तु एक प्रश्न उठता है कि:-

'फिर शास्त्रमें बारह प्रकारके तप क्यों कहे ?'

ज्ञानचन्द:—शास्त्रका कथन उपादान और निमित्त इन दो अपेक्षाओंसे होता है। निमित्त पृथक्-पृथक् होनेसे निमित्तोंमें भेद होता है, परन्तु उपादान तो आत्माका शुद्ध भाव होनेसे उसमें भेद नहीं पड़ता। इसलिये निमित्तकी अपेक्षासे यह बारह भेद व्यवहार शास्त्रोंमें बताये जाते हैं।

१२:—करमचन्द:—तब निश्चय शास्त्रमें सम्यक्तपका स्वरूप कैसा कहा है ?

ज्ञानचन्द:—श्री प्रवचनसार गाथा १४ की टीकामें उसकी व्याख्या निम्नानुसार की है :—

'स्वरूप विश्रान्तनिस्तरंग चैतन्यप्रतपनात् सः तपः' ॥

अर्थ:—स्वरूपकी स्थिरतारूप निस्तरंग (तरंग रहित, निर्विकल्प) चैतन्यका प्रतपन (दैदीप्यमान होना) तप है। इसलिये वही यथार्थ तप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्द:—प्रारम्भमें प्रश्न करते हुए आपने पूछा था कि 'स्व-वशसे हम आहारको छोड़ते हैं, इससे यदि हम आत्माका स्वरूप न जानते हों तो भी निर्जरा क्यों न होगी? उसका स्पष्टीकरण भी गर्भित रीतिसे आगया;—यह आप समझे हैं?

करमचन्द:—वह वस्तु अधिक स्पष्टीकरण चाहती है।

ज्ञानचन्द:—अच्छा, तब फिर हम इस विषय पर चर्चा करेंगे ऐसा कहकर दोनों चल दिये।

प्रकरण : ३३

सम्यक् तपका स्वरूप भाग—२

१:—करमचन्द:—हमने पहले सम्यक् तपके संबंधमें चर्चा की थी तब निम्न विषय उसमें आये थे:—

(१) अपनी शक्तिसे हम आहारादिको छोड़ें तो वह अपने वशसे छोड़े कहलायेंगे या नहीं?

(२) अस्ति-नास्तिका स्वरूप समझे बिना जीवका स्वरूप यथार्थ समझमें नहीं आता।

(३) सम्यग्दृष्टिके ही यथार्थ तप होता है।

(४) तत्त्वकी बातका प्रतिपादन हो तब उसका सब पक्षोंसे विचार करके निर्णय करे तभी धर्मका यथार्थ स्वरूप समझमें आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५) निमित्तनैमित्तिक संबंधको समझना चाहिये।

(६) शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति जानना चाहिये।

इन विषयोंमेंसे पहले विषय संबंधी अधिक स्पष्टताकी आवश्यक्ता है, ऐसा मैंने कहा था। मैंने उस सम्बन्धमें कितने ही विचार किये हैं, तब भी यदि आपके साथ चर्चा हो तो विशेष स्पष्टता हो ऐसा मैं मानता हूँ; इसलिये यदि आपकी सम्मति हो तो उस विषयको ले लें।

ज्ञानचन्दः—आप इस विषयमें रुचिपूर्वक विचार करते हो; इसलिये आपको जो पूछना हो वह खुशीसे पूछ लो।

करमचन्दः—अपनेको रोटी-पानी सब कुछ मिला है, और उसे हम अपनी शक्तिसे छोड़ें तो वह स्व-वशसे छोड़ा हुआ क्यों नहीं कहलायेगा ?

ज्ञानचन्दः—आप ऐसा कहना चाहते हैं कि—हम आहार लेनेका सोच रहे हों और दूसरा कोई अड़चन डाले और आहार न ले सकें तो परवश आहार छोड़ा कहलाये; किन्तु अपनेको आहारकी योग्य व्यवस्था हो, शरीर स्वस्थ हो और आहार एक दिन न लेनेका नियम लें तो स्व-वश आहार न लिया कहलायेगा, यह बात ठीक है।

करमचन्दः—हाँ, ठीक, मैं यही कहना चाहता हूँ, चौवीस घन्टे आहार न लेनेका निश्चय करें, जैनधर्मी कुटुम्बमें जन्म लिया है, धर्मस्थानपर जाकर गुरुके पाससे प्रतिज्ञा लें तो उपवास किया कहलाता है, और उसे लोग तप तथा निर्जरा कहते हैं। बहुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपवास करनेवालेको लोग तपस्वी कहते हैं; वह सब स्व-वशसे होनेसे निर्जरा होती है ऐसा बहुत लोग मानते हैं।

मैंने उस सम्बन्धमें कोई विचार नहीं किया है; अब मैं उस सम्बन्धमें मनन करके निर्णय करना चाहता हूँ इसलिये यह बतलाइये कि 'स्व-वश' क्या कहलाता है ?

ज्ञानचन्दः—देखो भाई ! आप कहते हो वैसे उपवास और नियम तो प्रत्येक संप्रदायमें होते हैं, परन्तु उन्हें तो निर्जरा नहीं होती ऐसा आप आगे कहते थे, तब फिर जैनधर्मी कुटुम्बमें हमने जन्म लिया है और वैसे उपवास करनेसे तप-निर्जरा होती है—ऐसा मानना न्यायविरुद्ध है।

करमचन्दः—यह बात बराबर है,-ऐसी मान्यता तो न्यायविरुद्ध है, इसलिये यथार्थ स्वरूप बतलाओ।

३ः—ज्ञानचन्दः—देखो भाई ! 'स्व-वश' शब्द स्व+वश का बना हुआ है। 'स्व' का अर्थ स्वतः है, और स्वतः तो आत्मा है। इसलिये आत्माको प्रथम जाने, वही अपने 'वश' वर्त सकता है। इससे सिद्ध हुआ है कि आत्मज्ञानीको ही सम्यक् तप हो सकता है। आत्माको न जाने और जाननेका प्रयत्न न करे; उसे सम्यक् उपवास या तप कैसे हो सकता है ? आत्माको न जानता हो उसे मन्द कषायके हेतुसे उपवास नहीं करना चाहिये—ऐसा कहनेका हेतु नहीं है; तीव्र कषायके बदले मन्द कषाय यह तो अल्प विकार है, इससे उसका निषेध करके तीव्र कषाय करो और गृद्धिता बढ़ाओ—ऐसा कहनेका तात्पर्य हो ही नहीं सकता। मंद कषायके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावको धर्म न मानना—इसलिये विपरीत अभिप्रायको—विपरीत मान्यताको बदलकर सच्ची मान्यता करनेके लिये यह कहा जाता है।

करमचन्दः—शुभभाव छोड़कर पापभाव करनेको अथवा गृद्धिता बढ़ाकर आहारमें लीन होकर अशुभमें जानेके लिये आप कहते हो यह तो हो ही कैसे सकता है ? आप जो कहोगे उसपर मैं सूक्ष्मतासे मनन करूँगा इतना आपको विश्वास देता हूँ; और आप तो कहते हो कि यह बात मैंने कही इसलिये सच्चा मानना यह तो परतंत्रदशा कहलायेगी और मैं तो स्वतंत्रताका उपासक हूँ, इसलिये आपकी बातकी पूरी पूरी तुलना करके परीक्षा करके सत्य लगे तभी मैं ग्रहण करूँगा, नहीं तो फिर पूछूँगा। (वैज्ञानिक रीतिसे) धर्मदृष्टिका मैं अभ्यासी होना चाहता हूँ।

ज्ञानचन्दः—आपकी जिज्ञासा अनुमोदनको पात्र है। संसारी कार्य परीक्षाके बिना नहीं किये जाते, तब फिर धर्मके सिद्धान्त तुलना किये बिना ग्रहण कर लेना वह बुद्धिमत्ता तो नहीं है परन्तु भगवानकी आज्ञाके विरुद्ध है। अब समय हो चुका है, इसलिये अब फिर मिलेंगे तब इस विषय पर चर्चा होगी।

(दोनों मित्र चले गये)

प्रसंग—दूसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

४:—करमचन्दः—अपना विषय आज आगे चलाना है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—भले, मैंने आपसे 'स्व-वश' शब्दका अर्थ कहा था और बतलाया था कि उसका अर्थ अपने आत्माके वश—ऐसा होता है। जो जीव आत्माको ही न जाने वह स्ववश होगा ही कहाँसे ? यह तो प्रगट दिखाई ही देता है कि जो अपने आत्माको न पहिचानता हो वह मिथ्याभावके वश होता ही है। उसे तत्त्वकी यथार्थ खबर नहीं है, इससे उसे अपने स्वरूपकी मिथ्या (विपरीत) मान्यता होती ही है। इसलिये उसका कोई कार्य 'स्व-वश' है ही नहीं। उसका प्रत्येक कार्य मिथ्याभावके वश होनेसे वह 'परवश' है। विपरीत मान्यताके वश होना वही सबसे बड़ी 'परवशता' है। यह स्वरूप समझमें न आये वहाँतक परवशता नहीं मिटती, और इससे सम्यक् उपवास या तप नहीं होता।

५:—करमचन्दः—तब फिर प्रश्न यह है कि जो मनुष्य आत्माका यथार्थ स्वरूप न जानता हो वह उपवास करे तो उसका क्या फल आयेगा ?

ज्ञानचन्दः—फलका आधार आत्माके परिणामों पर है, इससे यदि उपवास करनेमें मंदकषाय हो—शुभभाव हो तो पुण्यबंध हो और अशुभभाव हो तो पापबंध हो। परन्तु इतना लक्ष्यमें रखना है कि पुण्य और पापके जो भेद पड़ते हैं वे, जो बाह्य संयोग भविष्यमें जीवको मिलते हैं उनमें भेद होनेसे पड़ते हैं; परन्तु आत्माका निजगुण दर्शन-ज्ञान, चारित्र (सच्ची मान्यता, सच्चा ज्ञान और सच्ची स्थिरता) तो शुभ और अशुभ दोनों भावोंसे नष्ट होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—उपवास करनेमें अशुभभाव होता है ?

ज्ञानचन्दः—हाँ, किसीके होता अवश्य है; जैसे—एक मनुष्यको खबर हुई कि उपवास करनेवालेको बड़ी मूल्यवान चीज बाँटी जावेगी, उसे ऐसा भाव आया कि यदि मैं उपवास करूँ तो मुझे भी मिलेगी, और धर्मी भी कहलाऊँगा। ऐसे भावसे जो उपवास करे उसके अशुभभाव है या नहीं ? वह आप ही कहो !

करमचन्दः—बराबर, क्योंकि उसने तो लोभका पोषण किया। उपवास धर्मके लिये नहीं है, परन्तु परिग्रह और बड़प्पन बढ़ानेके लिये किया है; इसलिये वह अशुभभाव है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि एक दिन उपवास किया इससे आहार नहीं लिया उसका क्या फल ?

ज्ञानचन्दः—आहार तो परवस्तु है। परवस्तुके संयोग या वियोगसे धर्म या अधर्म—लाभ या हानि कुछ नहीं होता। अपने परिणामसे ही लाभ-हानि होती है। नैमित्तिकरूप अपने परिणाम कैसे हैं ? जानना चाहिये।

७:—करमचन्दः—भगवानने श्रावकको चार आवश्यक क्रियाएँ 'दान-शील-तप और भाव' कही हैं तो फिर उसका क्या ?

ज्ञानचन्दः—भगवानने श्रावक किसे कहा है, यह आप जानते हैं ?

करमचन्दः—मैंने उस सम्बन्धमें कुछ भी निर्णय नहीं किया है। परन्तु दूसरोंके पाससे सुना है कि हमने जैन कुटुम्बमें जन्म लिया है, भगवान महावीरको मानते हैं, जैन समाजमें रह रहे हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भगवानने कहा है वह सत्य है—ऐसा मानते हैं इससे श्रावक तो हैं।

ज्ञानचन्दः—जो आपने सुना है वह मैंने भी बचपनमें उपदेशकोंके पाससे सुना था; परन्तु वह मान्यता भूलयुक्त है—ऐसा—सूक्ष्म आत्मज्ञानी उपदेशकोंका उपदेश सुननेसे मुझे ज्ञात हुआ। आप कहते हो, उसे लोग श्रावक कहते हैं—परन्तु वीतराग तो कहते हैं कि अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपकी जानकारी हुई हो और वैसी समझपूर्वक गृहस्थ अवस्थामें अमुक अंशमें स्वावलंबनकी निर्मलताकी उत्पत्तिपूर्वक ही परावलंबनका राग यथाशक्ति अंशतः छोड़े वह श्रावक कहलाता है। दूसरोंका नाम श्रावक कहनेमें हानि नहीं है।

करमचन्दः—परन्तु जैन कुटुम्बमें जन्म लिया उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—कुटुम्बका धर्मके साथ सम्बन्ध नहीं है। कुटुम्ब तो परवस्तुका संयोग है, और धर्म तो अपने आत्माका स्वभाव है।

८:—करमचन्दः—परन्तु भगवान महावीरको, और उन्होंने जो कहा वह सत्य है—ऐसा तो हम मानते हैं उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—भगवान महावीरको तुम नामसे मानते हो या उनके गुणोंसे? यदि तुम गुणसे मानते हो तो बतलाओ कि उन्हें सम्यग्दर्शन गुण किसप्रकार प्रगट हुआ था?

करमचन्दः—यह तो मैं नहीं जानता परन्तु उन्हें केवलज्ञान था ऐसा जानता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—केवलज्ञानके यथार्थ स्वरूपकी यदि तुम्हें खबर हो तो उसे संक्षेपमें कहो।

करमचन्दः—यह तो मैं नहीं जानता। भगवान केवलज्ञानी थे—ऐसा सभी कहते हैं, इसलिये मैं भी कहता हूँ।

ज्ञानचन्दः—लोगोंमें केवलज्ञानका स्वरूप कितने जानते हैं?, यह तुमने निश्चित् किया है? या जैसा दूसरे कहते हैं वैसा ही तुम कहते हो?

करमचन्दः—मैंने वह निश्चित् नहीं किया है। निश्चित् किये बिना दूसरोंके कहे अनुसार कह देना और अर्थ न समझना वह तो दोष है—ऐसा विचार करनेसे ज्ञात होता है। जैसा आप कहते हैं उसप्रकार तो हम भगवान महावीरके स्वरूपको नहीं जानते और न उनके कहे हुये धर्मके स्वरूपको ही जानते हैं; जबतक मैं उनके स्वरूपको नहीं जानूँगा तबतक यथार्थ अनुयायी नहीं कहलाऊँगा। आजकी चर्चा बहुत अच्छी रही; अब कल इसीसमय फिर मिलेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है, समय भी हो चुका है; आप कहोगे तब फिर मिलेंगे।

दोनों मित्र चल देते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ३४

दया, दानादिका वास्तविक स्वरूप ।

१:—करमचन्द:—'स्व-वश' और 'पर-वश'के सम्बन्धमें आत्मधर्ममें विवेचन किया है; इससे मेरी समझमें आगया है कि 'स्व-वश'का अर्थ होता है आत्माके वशमें; अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वभावके वशमें हो वह 'स्व-वश' और रागके वशमें हो वह 'पर-वश' है। इन विषयों पर चर्चा हो चुकी है; अब दूसरे विषयको लें तो ?

ज्ञानचन्द:—जैसी आपकी इच्छा; मुझे कोई अड़चन नहीं है।

२:—करमचन्द:—मैं कुछ समय पहले एक सभामें गया था; वहाँ एक भाईने भाषण दिया कि—'गरीबोंको दान देना वह धर्मानुष्ठान है।' आपका इसमें क्या मत है ?

ज्ञानचन्द:—उसमें आपको शंका क्यों हुई ?

करमचन्द:—मैंने इस विषयमें विचार किया कि यह जीव अनादिसे है, उसने इतने दीर्घकालमें करुणा भावसे दान न दिया हो यह कैसे हो सकता है ? और उससमय 'धर्म' नहीं हुआ तब फिर इससमय धर्म कैसे होगा ? ऐसे विचार आये; लेकिन कुछ निर्णय नहीं हुआ; इसलिये आपसे पूछता हूँ।

ज्ञानचन्द:—दान देनेमें यदि शुभ परिणाम हों तो पुण्य होता है; धर्म नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्द:—आप पुण्य कहते हो उसका क्या कारण?

ज्ञानचन्द:—देखो! सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना जीवने पूर्वमें अनन्तबार महाव्रतोंका पालन किया, उनमें अतिचार नहीं आने दिया, तथापि धर्म नहीं हुआ। पुण्य हुआ, और उसके फल-स्वरूप देवगति मिली; यह आपने सुना है?

करमचन्द:—हाँ, मैंने वह सुना है। तब क्या आप यह कहना चाहते हो कि पुण्य है वह धर्म नहीं है?

ज्ञानचन्द:—पुण्यको लोग धर्म कहते हैं, और मानते हैं; इससे उसे रूढ़िसे—"लौकिक धर्म" कहना हो तो कहो, परन्तु वह "सत्य धर्म" नहीं है।

करमचन्द:—भले ही वह सत्यधर्म न हो परन्तु धर्मानुष्ठान तो है न?

ज्ञानचन्द:—भाई! वह धर्मानुष्ठान है या नहीं उसपर हम लोग विचार करें। 'धर्मानुष्ठान' शब्द तीन पदका बना हुआ है; वह निम्नानुसार है:—

धर्म+अनु+स्थान= धर्मका अनुसरण करके आत्मामें स्थिर रहना। अब, आपको तुरन्त ही ध्यानमें आयेगा कि यदि उस भावसे धर्मका अंश होता हो तो जीवमें आज शुद्धताके अधिक अंश प्रगटरूपसे देखनेमें आयें अथवा तो सम्पूर्ण पवित्र दिखाई दे। धर्मका एक अंश भी जिसे प्रगट हो जाये उसे क्रमशः सम्पूर्ण धर्म प्रगट हुए बिना न रहे। और यदि दानसे धर्म होता हो तो गरीब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उनके पास पैसा तो नहीं है। और ऐसा होनेसे, धर्म पैसेवालोंके ही लिये है—ऐसा हो जाये; परन्तु वैसा नहीं है; क्योंकि 'धन' तो परवस्तु है, परवस्तु द्वारा आत्माका धर्म होता ही नहीं।

३:—करमचन्द:—गरीब पैसा न दे सके तो कोई बात नहीं, दूसरा दे उसका अनुमोदन करे; गरीबको उसप्रकार धर्म हो। करना-कराना और अनुमोदन करना, चाहे जो भाव हो, तथापि समान लाभ माना जाता है, इसलिये गरीब उसप्रकार 'धर्म' कर सकता है।

ज्ञानचन्द:—उसका अर्थ ऐसा हुआ कि परके आधारसे धर्म होता है अर्थात् पैसे द्वारा (जो वस्तु जीवसे पर है, उसके आधारसे) धनवानको धर्म हो, और गरीब है वह ऐसे अवसरकी राह देखे—उसका अनुमोदन करे—अर्थात् धनवान पैसेके आधारसे धर्म करें और गरीब उनका दान देखें तब अनुमोदन करें इससे धर्म हो—ऐसा सिद्धान्त हो तो धर्म जड़-परवस्तुके अधीन हो जाये, परन्तु धर्म तो आत्माका (अपना) स्वभाव है, अपना स्व (स्वत:का) भाव तो अपनेमें होता है इससे अपना शुद्ध स्वभाव वह धर्म कहलाता है। इसलिये जीव प्रथम अपने स्वभावकी जानकारी बराबर करे तो वह धर्म प्रगट कर सकता है; उसके बिना कभी धर्म नहीं होता।

४:—करमचन्द:—बराबर, धर्म आत्माका स्वभाव है, वह बात तो सत्य है। वे भाषणकर्ता भी 'धर्म'की वैसी ही व्याख्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते थे, परन्तु वे कहते थे कि हम दान दें, सेवा करें, तो वह पुण्य है; और वह धर्मको प्रेरित करता है, इसलिये उसे सत् अनुष्ठान कहते हैं—सहायक कहते हैं। इस विषयमें आपका क्या कहना है?

ज्ञानचन्दः—यदि वह भाव धर्मको प्रेरित करता हो तो धर्मका अनन्तवाँ भाग भी प्रगट होना चाहिये; और यदि उससे अनन्तवाँ भाग भी प्रगट होता हो तो ज्यों ज्यों दान, सेवा आदि हम बहुत करेंगे त्यों त्यों वे दान, सेवादि धर्मको प्रेरित करते रहेंगे और धर्ममें वृद्धि होती जायेगी; परन्तु वैसा तो नहीं होता। कितने ही मनुष्य ऐसे होते हैं कि जो अपना नाम प्रगट किये बिना ही गरीब आदमियोंको दान देते रहते हैं, सेवा करते हैं, दया पालन करते हैं, तथापि उन्हें आत्मस्वरूपकी कुछ भी खबर नहीं होती; इस प्रकार उन्हें पुण्यभाव धर्मका प्रेरक या सहायक नहीं होता, तो दूसरोंको कैसे हो?

करमचन्दः—उसका क्या कारण है?

ज्ञानचन्दः—करुणाभाव तो रागभाव है। राग किसी भी जातिका हो—दोष है। शुभराग है वह भी अशुद्ध भाव है-विकार है। विकार करते-करते अविकारीपना प्रगट हो ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता; परन्तु त्रैकालिक अविकारके आश्रयसे ही विकारको दूर करते करते अविकारीपना प्रगट होता है, यह ही नियम है।

५:—करमचन्दः—आपने जो कहा वह मैं समझा। पाप दूर करके पुण्य करना वह पापकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें मन्दकषाय है; परन्तु वह आत्माके धर्मकी अपेक्षा अच्छा नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि वह मन्दकषाय भी विकार है; और जो विकार है वह अविकारको प्रेरित ही नहीं करता या सहायक ही नहीं होता— ऐसा आप कहना चाहते हैं; उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

ज्ञानचन्दः—ठीक; पुण्य है वह धर्म नहीं है—ऐसा कहनेमें पुण्यका स्वरूप समझाया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि—जो शुद्ध स्वभावको समझे किन्तु एकदम उसे अमलमें न ला सके तो उसे पुण्य छोड़कर पाप करना। इसका तो यह अर्थ है कि—पाप कभी नहीं करना चाहिये। जबतक वीतराग न हुआ जा सके तबतक मुमुक्षु जीवको जो राग रहा है वह सत्‌देव, सत्‌गुरु, सत्‌शास्त्र तथा करुणाभावकी ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा; परन्तु वह जीव रागको 'धर्म' कभी नहीं मानेगा; उसे वह धर्म मानता ही नहीं। इससे वह शुभभावोंको दूर करके शुद्धमें जानेका प्रयत्न करके क्रमशः पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा। अब कहो, कि जो जीव यथार्थ स्वरूपको समझे वह लोभको कम करेगा या नहीं?

करमचन्दः—अवश्य ही वह लोभको कम करेगा; लोभ कम करनेका भाव उसे आयेगा ही। उसके परिणामसे दान हुए विना नहीं रहेगा, और दूसरेको स्वतः दान देता है—ऐसा अभिमान उसे नहीं होगा। जितने अंशमें अपनेमें सुधार हुआ उतने अंशमें स्वतः अपनेको दान दिया—ऐसा वह मानेगा, क्यों बराबर है न?

ज्ञानचन्दः—हाँ, वह बराबर है, परन्तु इतना ही नहीं, जीवका यथार्थ स्वरूप समझनेवाला तो ऐसा मानता है कि— पैसा है वह मेरा नहीं है, जड़ है, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, मैं उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसीको नहीं दे सकता; या ले भी नहीं सकता। परन्तु मेरी जो उसपर आसक्ति है वह मुझे दूर करना ही चाहिये, और वह आसक्ति दूर करने के समय पैसा तो जिस जगह जाने योग्य है उस जगह अपने कारणसे गये बिना नहीं रहेगा। मैंने जड़का दान किया—ऐसा मानूँ तो जड़का स्वामी हो जाऊँ; इसलिये वैसा नहीं है। मैंने तो अपने लाभके लिये अपना लोभ कम किया है, उसका मेरा स्वतः पर उपकार है, और जो कुछ अभी लोभ रहता है वह मुझे हानिकारक है, इसलिये उसे दूर करूँ तभी मुझे पूरा लाभ हो।

करमचन्दः—आपकी बात मुझे न्यायानुसार लगती है। और भाषणकर्ताका अभिप्राय सच्चा नहीं है, ऐसा मुझे विश्वास होता है। वे भाषणकर्ता और भी बहुत कहते थे उस सम्बन्धमें भी चर्चा करनेकी आवश्यक्ता है; लेकिन अब फिर मिलेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है।

(दोनों मित्र चले जाते हैं)

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

६:—करमचन्दः—वे भाषणकर्ता कहते थे कि 'गरीब भले ही दान न कर सके तो उससे क्या हुआ ? धर्मके दूसरे बहुतसे अंग हैं। जैसे कि—दया, गुरुसेवा इत्यादि प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, वे सब धर्मानुष्ठान हैं,—यदि ऐसा न मानें तो जगतमें दयादानादि अनुष्ठान नहीं रहेंगे।' अब हम दया सम्बन्धी विचार करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—इस भाषणकर्ता ने जो कहा—वैसा ही आपका मत है—ऐसा मानकर यदि हम लोग आगे चर्चा करें तो कैसा रहे ?

करमचन्दः—नहीं; वैसा नहीं है; मेरा वह विचार नहीं है। मुझे तो अभी निर्णय करना है, इससे आपसे पूछा है। इस भाषणकर्ताने जो भाव दर्शाये थे उन्हें तो मैं समझनेके लिये आपसे कह रहा हूँ।

ज्ञानचन्दः—आप कहते हो वैसे विचार उन भाषणकर्ता के और दूसरोंके भी हैं, इसलिये हम उन विचारोंकी परीक्षा करें।

७:—करमचन्दः—बतलाइये, दया, धर्मका अंग है या नहीं ?

ज्ञानचन्दः—हम दयाके स्वरूपपर विचार करें उससे पूर्व 'दया' शब्दसे आप क्या कहना चाहते हैं ? उसकी व्याख्या कीजिये।

करमचन्दः—दया शब्द तो प्रसिद्ध है, उसके अर्थकी क्या आवश्यकता है। छोटासा बच्चा भी जानता है कि 'जीवकी हिंसा' न करनेका नाम दया है।

ज्ञानचन्दः—ठीक है; परन्तु वह व्याख्या अपूर्ण है। अपने जीवकी हिंसा न करना दया है या पर जीवकी हिंसा न करना ? यह आपने स्पष्ट नहीं किया; इसलिये स्पष्ट कीजिये।

करमचन्दः—'अपने जीवकी हिंसा' कैसे होती होगी ? पर जीवको न मारना वह दया है; ऐसा अर्थ लोकमें प्रचलित है। आप कोई दूसरा अर्थ करना चाहते हैं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—मैं क्या अर्थ करना चाहता हूँ उसका तो यह पर प्रश्न ही नहीं है। भाषणकर्ता दयाका अर्थ क्या करते थे–उसका प्रश्न है।

करमचन्दः—दूसरे जीवको न मार डालना, उसे 'दया' कहना चाहिये—ऐसा भाषणकर्ता कह रहे थे, इसलिये वह अर्थ मैं आपके पास स्पष्टीकरणके लिये रख रहा हूँ।

ज्ञानचन्दः—जब जीवने पूर्व भवोंमें अनन्तबार महाव्रतोंका पालन किया, तब क्या जीवहिंसा की थी।

करमचन्दः—यह कैसे कह सकते हैं ? यदि अतिचाररहित महाव्रतोंका पालन करे तभी जीव नवमें ग्रैवेयकमें जाता है, और (आत्माकी पहिचान न हो तो) वह फिर संसार चक्रमें भ्रमण करता है—ऐसा मैंने सुना है; इसलिये पहिले जीवने ऐसी दया तो अनंतबार पाली है ऐसा मानना ही चाहिये।

ज्ञानचन्दः—यदि वैसा है तो उससमय जब 'धर्म' नहीं हुआ तब फिर आज कैसे होगा ?

करमचन्दः—धर्म भले न हो, परन्तु धर्मका अनुष्ठान तो होता है ? उसे सद्व्यवहार तो कहना ही पड़ेगा ? वह परमार्थको तो प्रेरित करता है न ?

ज्ञानचन्दः—पर जीवको न मारनेका विकल्प उठना वह रागभाव है या वीतरागभाव ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—वह विकल्प तो वीतरागको होता ही नहीं। अरे, वीतराग तो क्या, परन्तु अप्रमत्त साधुको भी ऐसा विकल्प नहीं होता कि—इस जीवको बचाऊँ तो अच्छा हो; ऐसा विकल्प उठता है वह रागभाव है, ऐसा कहे बिना नहीं चल सकता।

ज्ञानचन्दः—तब फिर—रागभाव वीतरागभावको प्रेरित करता है? यदि अल्प राग वीतरागभावको प्रेरे तो फिर विशेष राग अधिक वीतरागभावको प्रेरित करेगा—ऐसा कहना पड़ेगा। इसलिये रागभाव वीतरागभावको प्रेरित करता ही नहीं; अतः वह सद्अनुष्ठान या सद्व्यवहार नहीं है।

६:—करमचन्दः—परन्तु यदि आपके उपरोक्त कथनानुसार दयाको धर्ममें न गिनें, तब फिर लोग दया नहीं करेंगे?

ज्ञानचन्दः—सच्चा समझे और उससे हानि हो—ऐसा मानना योग्य नहीं है। असत्यसे लोगोंको या समाजको लाभ होता है, ऐसा माननेवाला वह कह सकता है। जबतक जीव सम्पूर्ण वीतराग न हो तबतक भूमिकानुसार पुण्यभाव आये बिना कैसे रह सकते हैं? सम्यग्दृष्टिको पुण्यकी इच्छा न होने पर भी बहुत उच्च पुण्यका बंध होता है; मिथ्यादृष्टिके वैसा पुण्य कभी नहीं होता। अज्ञानी जीव अनादिसे पुण्य-पाप करता आरहा है और जबतक नहीं समझेगा तबतक अज्ञान पूर्वक करता रहेगा और पुण्यको धर्म मानेगा। प्रत्येक जीव जो अपनेको अनुकूल हो वैसी मान्यता करता है, यह नियम है। यही प्रत्येक जीवकी स्वतंत्रता सिद्ध करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्ररूपणा असत् क्यों की जाये ? सत् प्ररूपणासे किसी जीवको हानि होती ही नहीं परन्तु वह सुधरता है।

१०:—करमचन्द:—विकारी जीवोंके पुण्य-पापका चक्र चलता ही रहता है, ऐसा आपने कहा वह बराबर समझमें नहीं आता इसलिये विशेष स्पष्टता कीजिये !

ज्ञानचन्द:—विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, परन्तु दोष है। विकारका ऐसा स्वरूप है कि वह न्यूनाधिक होता रहता है परन्तु समान नहीं रहता। जैसे किसीको बुखार आया हो, वह किसी समय ९९ डिग्री हो तो कभी १०२ डिग्री भी होता है; लेकिन जब बुखार उतर जाता है तब ९८॥ डिग्री (Normal) एक समान रहता है। इसी प्रकार विकार भी एक समान नहीं रहता। इस सिद्धान्तका अनुसरण करके जीवको भिन्न-भिन्न गति अपने भावोंके अनुसार प्राप्त होती है। जब भारी क्रूरता करे तब नारकी होता है, और महान पुण्यभाव करता है तब स्वर्गमें देव होता है; जब माया करे तब तिर्यंच होता है; पुण्य-पापके मध्यम परिणाम करे तब मनुष्य होता है। इस प्रकार पुण्य-पापका चक्र फिरता रहता है—इसलिये विकार तो घूमता रहता है और शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) कषाय-चक्र अज्ञानी के चलता ही रहता है।

करमचन्द:—तब क्या जीवको अनादिसे पुण्य-पाप करना ही आता है ?

ज्ञानचन्द:—है तो ऐसा ही ! यदि जीव निगोदमें पुण्य-भाव न करे तो वह त्रस कैसे हो ? वह अपने शुभभावसे ही हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता है। निगोदमें श्रोत्र इन्द्रिय नहीं है, कोई उपदेशक भी नहीं है, किसी जीवकी दया पालन नहीं की है, दान दिया नहीं है, तथापि त्रस हुआ, और फिर मनुष्य हुआ। ऐसे समस्त शुभभाव स्वतः किये इससे वे गतियाँ प्राप्त हुईं।

११:—करमचन्दः—तब तो शुभ भाव राग है, बंधका कारण है; धर्मका अनुष्ठान नहीं है। जो धर्मको प्रेरित नहीं करता वह सद्व्यवहार नहीं है—ऐसा तो समझ गया; परन्तु शुभभाव तो ज्ञानी जीव भी करता है, उसका क्या ?

ज्ञानचन्दः—यह प्रश्न बहुत अच्छा है। यदि आप स्वतः उस पर विचार करोगे तो अधिक ठीक रहेगा। इसलिये अब फिर हम लोग मिलेंगे तब उस प्रश्नको लेंगे। लेकिन अभी दयाका वास्तविक अर्थ करना है; उसे पहले लेंगे।

दोनों मित्र चल दिये

दोनों मित्र फिर मिलते हैं

१२:—करमचन्दः—दयाका स्वरूप आप क्या कहते हैं, उसकी क्या व्याख्या है ?

ज्ञानचन्दः—दयाके दो विभाग हैं, स्वदया और परदया।

करमचन्दः—स्वदयाका अर्थ क्या ! क्या अपनी दया होती होगी ?

ज्ञानचन्दः—अपनी हिंसा और अहिंसा दोनों हो सकती हैं। अपनी अहिंसाको अपनी दया भी कहा जा सकता है। जीव अनादिसे भ्रमवश पराश्रयकी रुचि-स्वाश्रय ज्ञातापनकी अरुचि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पुण्य–पाप द्वारा अपनी शुद्धताकी हिंसा कर रहा है, उसे दूर करना यह अपनी अहिंसा अथवा अपनी दया है।

करमचन्दः—ऐसा अर्थ किसी जगह किया है ?

ज्ञानचन्दः—हाँ, श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं-—

(१)'क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे
कां अहो ! राची रहो ।'
'भाव निद्रा टालो ।'

अथवा–'बीते काल अनंत जो कर्म शुभाशुभ भाव
वही शुभाशुभ छेदतैं उपजे मोक्ष स्वभाव'

(२)श्री समयसारकी स्तुतिमें पहली ही लाइनमें कहा है कि:—"संसारी जीवके भाव मरणों मेटने करुणा करी सरिता वहाइ सुधामयी प्रभु वीर ने संजीवनी"

करमचन्दः—ठीक, लेकिन पर दयाका अर्थ क्या करते हैं?

ज्ञानचन्दः—पर जीवको न मारनेका या दुःख न देनेका अपना शुभभाव वह पर दया है। (यदि तत्त्वज्ञान सहित ऐसे शुभ राग होते हैं, श्रद्धामें सर्व रागादि दोषोंको हेय ही मानते हैं और इसप्रकार ज्ञानी जीवके दयाके शुभरागको व्यवहार दया कहनेमें आता है।)

१३:—करमचन्दः—स्व दयाका स्वरूप क्या है ?

ज्ञानचन्दः—स्व दया, स्वरूप दया और निश्चय दयाका स्वरूप निम्नानुसार है :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व दयाः—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यात्वसे ग्रहण किया हुआ है. सर्वज्ञ वीतराग कथित भेदज्ञान द्वारा स्व तत्त्वको प्राप्त नहीं करता, जिनाज्ञाका पालन नहीं कर सकता, ऐसा चिन्तवन करके वीतराग कथित स्व धर्ममें प्रवेश करना वह 'स्व दया' है।

स्वरूप दयाः—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूप विचारकर विशेषरूपसे स्वमें एकाग्र होनेका अभ्यास करे वह स्वरूप दया है।

निश्चय दयाः—शुद्ध-साध्य उपयोगमें एकता भाव और अभेद उपयोग वह 'निश्चय दया' है।

निश्चय धर्मः—अपने स्वरूपकी भ्रमणासे रहित स्वसन्मुख होना, आत्माको आत्मभावसे जानना, यह संसार मेरा नहीं है, मैं इससे भिन्न, परम असंग, सिद्ध सदृश शुद्ध आत्मा हूँ; ऐसी आत्म-स्वभाव वर्तना वह 'निश्चय धर्म' है। (स्वदया, स्वरूपदया, निश्चय-दया निश्चयधर्म सामान्यतः एकार्थ है।)

१४:—करमचन्दः—इस सम्बन्धमें मैं विचार करूँगा और यदि आवश्यक्ता होगी तो आपसे पूछूँगा। अभी तो यह बतलाइये कि—सम्यग्ज्ञानी शुभभाव (दया, दानादि) कैसे करता है ?

ज्ञानचन्दः—आत्मा एक परिपूर्ण चैतन्य द्रव्य है, और इससे स्वतः अपने स्वभावसे परिपूर्ण है, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव मानता है, और वह अपने ध्रुव स्वभावमें स्थिर होनेके लिये बारम्बार प्रयत्न—पुरुषार्थ करता रहता है; अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेका पुरुषार्थ तो करता है किन्तु स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकता—प्रयत्नमंद है तब अशुभभाव तो दूर होते हैं परन्तु शुभभाव रहते हैं उनका स्वामित्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके नहीं है। वह तो इस रागका ज्ञाता है। अन्य प्रकारसे कहा जाये तो ज्ञानीकी दशा निम्नानुसार है:—

१—दृष्टिकी अपेक्षासे वह अपनेको परिपूर्ण मानता है।

२—ज्ञान अपेक्षासे अपना त्रिकाली शुद्ध स्वभाव, अपनेमें होनेवाली शुद्धता और रह जानेवाली अशुद्धताको जानता है; अर्थात् वह उसका ज्ञाता है।

३—चारित्रकी अपेक्षासे अपनेमें शेष रहनेवाले अशुद्ध-भावको (शुभाशुभ भावको) वह विष समान मानता है। और उसे दूर करनेका ही पुरुषार्थ प्रवर्तमान है। एक ही समयमें तीन अपेक्षाको जानते हैं—

(१) श्रद्धाकी अपेक्षा अशुभराग भी निर्जरामें जाते हैं।

(२) ज्ञानकी अपेक्षा सब ज्ञेय हैं।

(३) चारित्र अपेक्षा शुभरागको भी दोष-जहर जानते हैं।

इसप्रकार जानते हैं फिर भी जब शुद्धतामें विशेष स्थित नहीं रहा जा सकता तब उसे शुभ भाव होते हैं। और उन शुभ भावोंको अनुकूल बाह्य पदार्थोंका प्रसंग–संयोग रहता है। जगतके जीव मुख्यत: संयोगीदृष्टि—बहिर्दृष्टि हैं; वे अपनेको और ज्ञानीको बाह्य संयोगोंमें समान या अधिक देखकर यह कल्पना करते हैं कि ज्ञानीका भाव भी अपने जैसा है। इससे जैसा लोग मानते हैं-वैसे ही दया–दानादि ज्ञानी करते हों–ऐसा बहिर्दृष्टि मानते हैं; परन्तु ज्ञानी तो अपनेमें होनेवाले कषायको अकषायस्वरूपकी दृष्टिसे दूर करना ही चाहते हैं। हाँ उसमें गुणस्थानकके अनुसार क्रम होता है;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिये बीचमें शुभभाव आते हैं; परन्तु उन भावोंको ज्ञानी कभी धर्म नहीं मानता। उन्हें धर्ममें प्रेरक, आदरणीय या सहायक नहीं मानता। जिन्हें प्रेरक माना, अच्छा माना, आदरणीय माना, सहायक माना—उन्हें छोड़नेके योग्य कोई मानता ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानी और जगतके दूसरे लोगोंकी मान्यतामें महान अंतर है। जगतके उन जीवोंकी मान्यता बिल्कुल विपरीत है; मान्यतामें बिल्कुल अन्तर है। (राग द्वेष बड़ा पाप नहीं किन्तु मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है जो अविरत सम्यग्दृष्टिको भी नहीं होता है।)

१५:—करमचन्दः—सच्ची श्रद्धाके पश्चात् चारित्र भी वैसा ही होना चाहिये वह क्यों नहीं होता?

ज्ञानचन्दः—सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान एक साथ होते हैं, परन्तु चारित्रमें क्रम पड़े बिना नहीं रहता। मेरे एक मित्र यह दलील हर समय लाते हैं; तब यह नियम समझानेके लिये उन्हें कितने ही उदाहरण देता हूँ, वह आपसे कहता हूँ:—

(१) हमने निश्चय किया कि हमें अपने भाईके यहाँ जाना है। वहाँ जानेसे लाभ है। उस निश्चयके साथ ही तुरन्त भाईके यहाँ नहीं जा सकते, नहीं पहुँच सकते, वायुयान द्वारा जायें तो भी उसी समय नहीं पहुँच सकते। इसलिये कार्य करनेके निश्चय और कार्यकी पूर्णताके बीच अन्तर होता ही है।

(२) हम दूसरे मार्ग पर जा रहे हैं, ऐसी खबर हुई, इसलिये पहले तो हम वहाँसे आगे जानेसे रुकते हैं, फिर वहाँसे लौटकर उसी रास्ते पर चलते हैं; और जब वह पहला मार्ग समाप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है तब नवीन मार्ग पर चलते हैं और मार्गके अन्तमें हम अपने लक्षित स्थान पर पहुँचते हैं। (यह दृष्टान्त है।)

करमचन्द:—यह तो आपने परवस्तुका दृष्टान्त दिया, अपना उदाहरण नहीं दिया ?

ज्ञानचन्द:—जो जानी हुई परवस्तु हो उसका दृष्टान्त दिया जाता है, वह सिद्धान्तको सर्वांशमें लागू नहीं होती; परन्तु उस परसे सिद्धान्तको पकड़ लेना चाहिये। आत्माका दृष्टान्त नहीं होता, क्योंकि वह तो अनुभवका विषय है। जिसे आत्माका अनुभव न हुआ हो उसे दृष्टान्तकी आवश्यक्ता है। जो समझता है उसे दृष्टान्तकी आवश्यक्ता नहीं है।

१६:—करमचन्द:—किन्हीं भी जीवोंको श्रद्धा और चारित्र समान होते हैं ?

ज्ञानचन्द:—केवली और सिद्ध भगवानको वैसा होता है; छद्मस्थोंके वैसा होता ही नहीं।

करमचन्द:—उसका क्या कारण ?

ज्ञानचन्द:—सम्यग्ज्ञानीके अंशत: राग दूर हुआ है और अंशत: राग है, उसे टालनेका प्रयत्न करता है; स्वयं सरागी अवस्थामें है—ऐसा वह जानता है, इसलिये जबतक राग हो तबतक चारित्र पूर्ण नहीं होता।

यहाँ एक मुख्य बात ध्यानमें रखना है कि—'स्वत: सराग है इसलिये रागके कृत्य करना चाहिये' ऐसा धर्म है—इसप्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह नहीं मानते, अथवा दूसरेके लिये वैसी प्ररूपणा नहीं करते। यदि ऐसी प्ररूपणा की जाये तो सराग अवस्थामें राग आदरणीय है, ऐसी मान्यता हुई, और वैसी मान्यता सच्चे ज्ञानीके होती ही नहीं।

प्रकरण : ३५

त्रासका साम्राज्य और उसे दूर करने का उपाय—सम्यग्ज्ञान

१:—करमचन्द:—भाई ! इस जगतमें जहाँ मैं देखता हूँ उधर त्रासका साम्राज्य चलता दिखाई देता है—यह ठीक है ?

ज्ञानचन्द:—आप जो कुछ कहना चाहते हैं उसे दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिये।

करमचन्द:—देखो, जगतमें प्रजाको राज्यका त्रास लगता है, मजदूरोंको पूंजीवादका त्रास लगता है; राज्यको बलवाखोरोंका त्रास लगता है, मनुष्यको शरीरके रोगका, अकालका, शत्रुका, हिंसक प्राणियोंका त्रास लगता है, यह यथार्थ है न ?

ज्ञानचन्द:—हाँ, लोकमें जीवोंको अनेक प्रकारके भय होते हैं; आपने कहे वे तो थोड़े हैं उनका विस्तार करें तो बहुत होता है और यदि संक्षेपमें कहें तो निम्नोक्त सात प्रकार हैं; और उन सात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारके भयोंमें जगतके समस्त भयों (त्रासों) का समावेश हो जाता है।

१:—इस भवमें जीवनपर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं उसका त्रास।

२:—मरणके पश्चात् पर भव होगा या नहीं; और होगा तो मेरा क्या होगा ! उसका त्रास।

३:—शरीरमें रोग हो उसकी वेदनाका त्रास।

४:—मुझे शरण देनेवाले—सगे-सम्बन्धी, कुटुम्बी, सेठ, राज्य आदि मेरी रक्षा करेंगे या नहीं; या किसी समय प्रतिकूल होनेका त्रास।

५:—मेरी कोई वस्तु कोई चोर-डाकू न ले जाये वैसी छिपाकर रक्खी है, उस गुप्त विषयकी किसीको खबर होने पर वह मुझे हानि पहुँचाएगा ऐसा त्रास।

६:—इन्द्रियों आदिकी शिथिलता और अन्तमें मरणका त्रास।

७:—कोई अकल्पित—यकायक अकस्मात हो जानेका त्रास।

२:—करमचन्द:—इन त्रासोंको दूर करनेका कोई उपाय भी होगा या नहीं ?

ज्ञानचन्द:—देखो; 'बरफ ठंडा है, इसलिये यदि उसे स्पर्श करूँगा तो जल जाऊँगा'—ऐसा भय या त्रास किसीको होता है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—बिल्कुल नहीं।

ज्ञानचन्दः—उसका क्या कारण है ?

करमचन्दः—उसका कारण यह है कि बरफका स्वभाव जाना है इसलिये ऐसा डर नहीं होता कि वह जला देगा।

ज्ञा०—आप अपने घरमें दिनमें रस्सी देखो तो आपको 'यह काट खायेगी' ऐसा डर लगेगा ?

करमचन्दः—बिल्कुल नहीं; क्योंकि मुझे खबर है कि उसका स्वभाव काटनेका नहीं है।

ज्ञानचन्दः—और उसी रस्सीको अँधेरेमें देखो तो वह सर्प है—ऐसा मानकर डरकर दूर भागोगे या नहीं ?

करमचन्दः—अवश्य, डरके कारण भाग जाऊँगा।

ज्ञानचन्दः—उसका क्या कारण ?

करमचन्दः—उसका कारण यह है कि—यह क्या वस्तु है, उसका मुझे उस समय अज्ञान है और उससे मुझे हानि होगी ऐसा भ्रम होता है, इसलिये मैं भागता हूँ।

ज्ञानचन्दः—तब देखो, इसपरसे ऐसा निश्चित् होता है कि वस्तुके स्वभावका अज्ञान हो वहाँ प्रतिकूलताके भयसे त्रास होता है।

३:—करमचन्दः—यह बात बराबर है, लेकिन किसी किसी समय ज्ञान होनेसे भी त्रास होता है और अज्ञान होनेसे सुख होता है।

ज्ञानचन्दः—वैसा उदाहरण दीजिये !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—एक मनुष्यका लड़का मर गया है, परन्तु जबतक उसे उस बातका ज्ञान नहीं है वहाँतक दुःख नहीं होता, और जब खबर होती है तब दुःख होता है; इससे इंगलिशमें कहावत भी है कि–Ignorance is bless अर्थात् 'अज्ञानता सुख है'।

ज्ञानचन्दः—आपके दिए हुए दृष्टान्तमें ज्ञान दुःखका कारण नहीं है, परन्तु 'लड़का मेरा है' इस ममत्वके कारण—उसकी ओर के रागके कारण, उससे जो अनुकूलता मान ली थी वह बन्द हो गई उस कारण, अथवा अपना वंश नहीं रहेगा उस कारण या भविष्यमें वह मेरी सेवा करता वह लाभ छिन गया—ऐसी किसी भी झूठ मान्यताके कारण ही दुःख होता है। और यदि ज्ञानसे दुःख होता है तो जिस–जिसने उसे जाना उन सभीको दुःख हो; माँ और पिता दोनोंको खबर होती है, तथापि माँ बहुत रोती-चिल्लाती है और पिता कम। अगर तो पिता बहुत रोए-चिल्लाये और माँ कम—ऐसा कैसे हो सकता है ?

४:—करमचन्दः—तब जो मैंने कही उस कहावतका क्या ?

ज्ञानचन्दः—वह अज्ञानियोंने बनाकर तैयार की है, वे स्वतः भी उसे सच्चा नहीं मानते, क्योंकि यदि सच्चा मानते हों तो स्वयं अपने धंधेमें होनेवाले लाभ-हानिसे क्यों परिचित रहना चाहते हैं ? अपने लड़कोंको किसलिये पढ़ाते हैं ? क्या उन्हें सुख प्यारा नहीं है ? यदि वे उस कहावतको सच्चा मानते हों तो वैसा करेंगे ही नहीं।

करमचन्दः—तब इस सम्बन्धमें कोई सच्ची कहावत है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—हाँ, Knowledge is Power अर्थात् 'ज्ञान बल है।'

करमचन्दः—यह कहावत तो मिथ्या प्रतीत होती है; क्योंकि अनेक शिक्षित, जगतमें बुद्धिशाली गिने जानेवाले मनुष्य कमजोर–निर्बल होते हैं और बिना पढ़े–मूर्ख मनुष्य तगड़े–बलवान होते हैं; अगर वे विद्वान–बुद्धिशालियोंको एक धक्का जमादें तो कुलाँट खा जायें।

ज्ञानचन्दः—आप कहावतका अर्थ ही नहीं समझे।

करमचन्दः—तब फिर वास्तविक अर्थ क्या है ?

ज्ञानचन्दः—आपने तो अपने दृष्टान्तमें जीव और शरीरको एक माना, इससे आप सच्चा अर्थ नहीं समझे।

करमचन्दः—आप यदि उस बातको सिद्ध करदो, तो हम मान जायें। कारण जाने बिना, परीक्षा किये बिना न मानना—ऐसा आपही ने कहा है; इसलिये आप कारण बतलाइये !

ज्ञानचन्दः—आप कारण माँगते हैं वह ठीक है, क्योंकि अन्धश्रद्धा शून्यवत् है। उन कारणों पर फिर चर्चा करेंगे।

[२]

६:—करमचन्दः—Knowledge is Power.

"ज्ञान वह बल, (सत्ता अधिकार) है"—इस कहावतका आप क्या अर्थ करते हैं ?

ज्ञानचन्दः—ज्ञान है वह त्रासको जीतनेवाला बल है। ज्ञान वह कहलाता है कि जो यथार्थ हो और दोष रहित हो—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सच्चा ज्ञान ही यथार्थ बल है, क्योंकि दृढ़ता होनेसे जीवको त्रास नहीं होता, इससे जीवको शांति रहती है।

करमचन्दः—आपने आगे सात प्रकारके त्रास कहे थे; उनमेंसे प्रत्येक त्रास ज्ञानसे किसप्रकार दूर हो सकता है,—वह बतलाइये ?

ज्ञानचन्दः—इस भवमें जीवन पर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं; यह इस लोकका भय है। इस भयको दूर करनेका साधन यह है कि ज्ञानमें यह निर्णय करना चाहिये कि परवस्तु मुझे अनुकूल या प्रतिकूल हो ही नहीं सकती। मेरे समझनेमें दोष है वही यथार्थ प्रतिकूलता है। मेरा जो चैतन्य गुण है वही मेरा लोक है वह नित्य है, सर्वकालमें प्रगट है। वह मेरे चैतन्यस्वरूप लोकको कोई परद्रव्यादि बना या बिगाड़ नहीं सकता। मेरा लोक मैं स्वतः चैतन्यस्वरूप (शरीर–राग–द्वेष–पुण्य–पापसे पर) हूँ, मेरा लोक नित्य मेरे साथ ही है। उसे इस लोकमें या परलोकमें त्रास देनेवाली कोई वस्तु नहीं है—ऐसा समझकर जो दृढ़ हो जाये उसे त्रास नहीं हो।

७:—करमचन्दः—जो दोष रहित है वह सच्चा ज्ञान कहलाता है—ऐसा आप कहते हो; तो ज्ञानमें दोष कितने हैं ?

ज्ञानचन्दः—(१) संदेह (२) विपरीतता और (३) अनिर्णय,—यह तीन ज्ञानके दोष हैं। जीव इन दोषोंको दूर करे उसीको सच्चा ज्ञान होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—कितने ही लोग कहते हैं कि आप तो जहाँ देखो वहाँ 'सच्चा ज्ञान–सच्चा ज्ञानको' करना ही कहते रहते हैं ?

ज्ञानचन्दः—सच्चे ज्ञानके प्रति जिसे अरुचि हो उसे ऐसे ही भाव आते हैं; समझनेकी रीति तो ऐसी है कि, समझनेकी बुद्धि से, पूर्वमें बाँधी हुई समस्त मान्यताओंको थोड़े समयके लिये एक ओर रखकर यदि जीव प्रयोजनभूत तत्त्व सुनकर यह निश्चित् करे कि यथार्थ क्या है, तभी सच्चा उपाय समझमें आता है। स्वयं जो मान्यताएँ बना रखी हैं यदि वे सच्ची हों तो अभीतक त्रास क्यों नहीं जाता ? शांति क्यों नहीं होती ? परकी कल्पित अनुकूलताओंसे जिसे सुख मानना हो उसे यह ध्यानमें रखना पड़ेगा कि परसे कल्पित की हुई सुविधाएँ थोड़े समयमें अदृश्य हो जायेंगी और कल्पित प्रतिकूलताओंका समूह आयेगा। आवेश और कल्पनाओंके द्वारा त्रास दूर नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि वे स्वतः त्रास उत्पन्न करनेवाले झूठे उपाय हैं।

करमचन्दः—ज्ञानसे लाभ होता है वैसी मान्यता संसारमें भी प्रचलित है और वे वैसा वर्तन भी करते हैं। जैसे किः—

(१) ज्ञान प्राधान्य न हो तो मनुष्य अपनी सन्तानको किसलिये पढ़ाएँ ?

(२) पेटमें दर्द होने पर उसके उपायके लिये वैद्यकज्ञाताके पास किसलिये जायें ? धाराशास्त्रीके पास क्यों नहीं जाते ?

(३) किसी व्यावहारिक कार्यमें कुछ कठिनाई प्रतीत हो तो उसका मार्ग पूछनेके लिये उस कामके ज्ञाताके पास मनुष्य जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) सुन्दर गहनें (-जेवर) बनवाना हों तो उसके जानकार सुनारके पास जाते हैं; किन्तु उसके लिये वैद्य-डॉक्टर या वकीलके पास कोई नहीं जाता। इन दृष्टान्तों परसे यह सिद्धान्त निकला कि लोग भी प्रतिकूलताएँ दूर करनेका उपाय सच्चे ज्ञानको मानते हैं। ऐसा होने पर भी किसी न किसी प्रकारका दुःख तो बना ही रहता है—उसका क्या कारण है ?

ज्ञानचन्दः—आत्माके (-अपने) स्वरूपका सच्चा ज्ञान क्या है, उसे लोग परीक्षा करके निश्चित नहीं करते।

करमचन्दः—कल्पित सुविधाएँ अल्प समयमें अदृश्य हो जाएँगी—ऐसा आप कहते हो, उसका क्या कारण है ?

ज्ञानचन्दः—परसे सुविधाएँ होती हैं वह कल्पना अपने ज्ञानकी विकृत (विपरीत) अवस्था है। और विकृत अवस्थाओंके पक्ष घूमते रहते हैं।

करमचन्दः—कितने मनुष्यों और राजाओंको आजीवन अमुक प्रकारकी अनुकूलताएँ तो रहती ही हैं, वह क्यों ?

ज्ञानचन्दः—मेरा कहना आप बराबर नहीं समझे। इससे अधिक स्पष्ट करनेकी आवश्यक्ता है।

परवस्तुसे तो अनुकूलता भी नहीं है और प्रतिकूलता भी नहीं है, परवस्तु मात्र जानने योग्य (ज्ञेय) पदार्थ है। परवस्तुकी कोई भी अवस्था अपने लिये अनुकूल है—ऐसी जीव कल्पना करता है और कोई प्रतिकूल है ऐसी कल्पना भी जीव करता है। परवस्तुओं का संयोग एक समान किसी जीवको नहीं रहता; किन्हीं-किन्हीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुओंका रहे, तथापि उनकी अवस्थाएँ तो बदलती ही हैं; इस-कारण परवस्तुसे अनुकूलता-प्रतिकूलताकी कल्पना करनेवाले जीवोंकी कल्पनाएँ बदले बिना रहती ही नहीं।

९:—करमचन्दः—तब सुख-दुःख तो मनकी कल्पनाएँ ही लगती हैं, यथार्थ सुख ज्ञात नहीं होता।

ज्ञानचन्दः—वैसा नहीं है, अपनी भूलसे सांसारिक सुख-दुःख तो है। परवस्तुसे अनुकूलता-प्रतिकूलताकी कल्पना जीव करते हैं, और वह भूल भूलरूपमें सत्य है किन्तु वह कल्पना मिथ्या अर्थात् भ्रम ही होनेसे मात्र हवाई किला वत् है। अपने सच्चे ज्ञान की दृढ़ताका फल शांतिरूप सच्चा सुख है, वह निश्चल है।

करमचन्दः—आपने यह तो स्पष्ट कर दिया कि इस लोक और पर लोकका भय कैसे दूर होता है; दूसरे भयों सम्बन्धी चर्चा फिर मिलेंगे तब रखेंगे।

ज्ञानचन्दः—बहुत अच्छा।

१०:—करमचन्दः—दूसरे त्रास कैसे दूर होते हैं?

ज्ञानचन्दः—रोग शरीरमें होता है, शरीर परमाणु-रज-कणोंका बना हुआ है; रजकण अजीव जड़ पुद्गल हैं। मैं जीव हूँ, शरीर संयोगी पदार्थ-होनेसे वह बिगड़ता-सुधरता है उससे मेरा कुछ सुधार-बिगाड़ नहीं होता। जीवका (आत्माका) शरीर तो ज्ञान-शरीर है, वह सदा अचल है, सदा निराकुल है। इससे रोगकी वेदना मुझे नहीं हो सकती; मैं ज्ञान स्वरूपका उपभोग करनेवाला हूँ; पुद्गलसे हुई रोगरूप अवस्था, वह वेदना ही नहीं है, इससे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथार्थ समझनेवालेको वेदनाका भय ही नहीं है। इसप्रकार सच्ची प्रतीतिकी दृढ़ता द्वारा वेदनाका त्रास नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। (चतुर्थ गुणस्थान गृहस्थ दशामें भी होता है उस जीवको प्रथमसे ही श्रद्धा अपेक्षा–स्वामित्वमें निरन्तर अपनी अखंड ज्ञानचेतनाके स्वामित्वरूप वर्तन है अज्ञानचेतनाका स्वामित्व किंचित् नहीं होनेसे श्रद्धाज्ञानमें जरा भी किसीका भय नहीं है, चारित्रकी कमजोरी जितना भय गौण है, गिनती नहीं है।)

११:—करमचन्द:—अरक्षाका त्रास कैसे दूर हो?

ज्ञानचन्द:—मैं एक स्वतन्त्र चैतन्य वस्तु हूँ, इसलिये स्वयं अपनेसे ही रक्षित हूँ। पर मेरी रक्षा नहीं कर सकता। मैं ऐसी वस्तु नहीं हूँ कि दूसरोंके द्वारा सुरक्षित रखनेसे रहूँ नहीं तो नष्ट हो जाऊँ। नित्य ज्ञानस्वरूपका आश्रय–दृढ़ता और इस ज्ञानके मंथनसे अरक्षाका त्रास नष्ट होता है।

करमचन्द:—पुण्य तो जीवका 'रखवाला' (रक्षक) है न?

ज्ञानचन्द:—पुण्य क्षणिक है या त्रिकाली?

करमचन्द:—पुण्य तो क्षणिक उत्पन्न ध्वंसी है।

ज्ञानचन्द:—तो वह क्षणिक भाव त्रिकाली आत्माका रक्षक कैसे हो सकता है?

करमचन्द:—कितने लोग कहते हैं कि यदि कोई यह समझ जायेगा तो पुण्य नहीं करेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—'मनुष्य सच्चा समझेंगे तो उल्टे चलेंगे'—ऐसा माननेवाले वह कह सकते हैं। सच्चा समझनेवाला पुण्यमें युक्त नहीं होगा, और तब शुद्धतामें युक्त होकर सर्व विकारोंको दूर करके मुक्त होगा। जैसे विकारकी वृद्धि हो वैसे ही त्रास दूर होता जाये—ऐसा तो होता ही नहीं। अज्ञानीका पुण्यभाव इस मान्यता पर रचा हुआ है कि परसे अपनेको अनुकूलता हो। ज्ञानी शुद्धमें न रह सके तब अशुभ दूर करनेके लिये शुभमें हेयत्वकी बुद्धि सहित युक्त होता है परन्तु उससे सच्चे धर्म नहीं मानता; इससे अवांछक वृत्ति होनेसे उच्च पुण्य होते हैं।

करमचन्दः—दूसरे वैसा उपदेश क्यों नहीं देते ?

ज्ञानचन्दः—प्रत्येक जीव जो अपनेको योग्य लगे वैसा उपदेश देता है। जिज्ञासुको उसकी परीक्षा करना चाहिए। प्रत्येक व्यापारी अपने मालको अच्छा और ऊँचा कहता है। जीवोंको पुण्यका अर्थात् भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादिकालसे ही है। और उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं, परन्तु उसका फल संसार है।

करमचन्दः—उसका फल संसार किसलिये है ?

ज्ञानचन्दः—पुण्य क्षणिक है, उत्पन्नध्वंसी है, वह विकारी है, इससे उसका फल संसार है, अन्य प्रकारसे कहें तो वह बढ़ता है (पुद्‌रूप होता है) और बिखर जाता है (गलरूप होता है) इससे पुद्गल भाव है; उसका फल भी पुद्गल वस्तुका संयोग है। विकारका फल सच्चा सुख नहीं हो सकता और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उससे त्रास भी दूर नहीं होता। [पुण्यास्त्रवसे नया बंधन होता है इसलिये उनका हेतु-स्वभाव-अनुभव और आश्रय बंधरूप और मोक्षसे विरोधीस्वरूप है। देखो स० सार पुण्यपाप अ०]

करमचन्दः—आपके कहनेपरसे ऐसा प्रतीत होता है कि-जो अपने आत्माको जानले उसे अरक्षाभय न रहे; क्योंकि आत्माको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, वह स्वयं अपनेसे ही रक्षक है।

ज्ञानचन्दः—हाँ, ऐसा ही है।

१२:—करमचन्दः—तब इसप्रकार वह परसे छिपा हुआ ही है, इससे उसे गुप्तिभय रखनेका वास्तवमें कोई कारण नहीं है, ठीक है न ?

ज्ञानचन्दः—सम्यग्दृष्टिके वैसी ही मान्यता होती है, और उसीकारण मरणभय या आकस्मिक भय नहीं होता। वह जानता है कि जीव मरता नहीं है, और अकस्मात् कभी होता ही नहीं; यह दशा असंयत सम्यग्दृष्टि होनेसे प्रारम्भ होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ३६

विश्व–प्रेम

प्रश्न—१:—करमचन्द:—'आत्मधर्म' में 'आत्माका हित ही मोक्ष है।' इस शीर्षकका लेख पढ़ा; उसमें विश्वप्रेमका स्वरूप आ जाता है—ऐसा मुझे लगता है, वह ठीक है ?

ज्ञानचन्द:—हाँ; उस लेखमें जो स्वरूप कहा है उसमें विश्वप्रेमका स्वरूप आ जाता है।

२:—करमचन्द:—यदि इस विषयको विशेष स्पष्टरूपसे समझा दें तो अच्छा है !

ज्ञानचन्द:—(अ) 'विश्व'का अर्थ है जगतके सर्व पदार्थ—छहों द्रव्य; वह निम्नानुसार है:—जो जाति अपेक्षा छह ही हैं, संख्या अपेक्षा अनंत भी हैं।

१—सिद्ध जीव, संसारी जीव, जिनकी संख्या अनन्त है।

२—अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य, सभी प्रकारके (स्कंधों सहित)

३—एक धर्मास्तिकाय।

४—एक अधर्मास्तिकाय।

५—एक आकाश।

६—असंख्यात कालाणु।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ब) प्रेम दो प्रकारका है। एक तो रागरहित प्रेम, दूसरा रागसहित प्रेम। उनमें जो रागरहित प्रेम है वह विश्वप्रेम है; क्योंकि उसमें सर्व द्रव्योंके प्रति समभाव है; राग–द्वेष नहीं है; विश्वप्रेमका दूसरा नाम समानभाव अथवा समभाव है। वस्तुएँ, उनके गुण और उनकी भूमिकानुसार अवस्थाएँ जैसी हैं वैसा जानना, और उनके प्रति राग–द्वेष न करना उसका नाम सच्चा विश्वप्रेम है।

३:—करमचन्द:—'आत्माका हित एक मोक्ष ही है' उस लेखमें इस स्वरूपका भाग कौनसा है वह बतलाइये!

ज्ञानचन्द:—उस लेखके नीचेके पैरेमें यह विषय आता है:—"जिसके अन्तरमें आकुलता है वह दुःखी है और जिसे आकुलता नहीं है वह सुखी है। और जो आकुलता होती है वह मिथ्यात्व और रागादि कषायभाव होनेसे होती है, क्योंकि मिथ्या अभिप्राय द्वारा यह जीव तो सर्व द्रव्योंको अन्य प्रकार परिणमित करनेकी इच्छा रखता है, और सर्व द्रव्य अन्य प्रकार परिणमित होते हैं तब इसे राग–द्वेष वश आकुलता होती है।"

"अब, या तो अपने रागादि भाव दूर हों अथवा अपनी इच्छानुसार ही सर्व द्रव्य परिणामित हों तो आकुलता दूर हो। अब, सर्व द्रव्य तो इसके अधीन नहीं हैं; परन्तु किसी समय कोई द्रव्य इसकी इच्छानुसार परिणामित हो तथापि इसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। सर्व कार्य इसकी इच्छानुसार ही हों, अन्यथा न हों, तभी यह निराकुल रहे, परन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है; परन्तु अपने रागादिभाव दूर होनेसे निराकुलता होती है; और वह कार्य बन सकता है; क्योंकि रागादि भाव आत्माका स्वभाव भाव तो है नहीं किन्तु औपाधिक भाव है।"

४:—करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है, ऐसा निर्णय करके पर-वस्तुओंके प्रति मिथ्या अभिप्राय न करना, राग-द्वेष न करना और स्वाश्रय द्वारा निराकुलता प्रगट करना, उसका नाम 'विश्वप्रेम' है—ऐसा आप कहना चाहते हैं ?

ज्ञानचन्दः—हाँ, ऐसा ही है। ऐसा भाव प्रगट होनेसे किसी भी जीवको दुःख देनेका, प्रतिकूलता करनेका, प्राण लेनेका, उसकी सुविधाएँ छीन लेनेका—ऐसा कोई भी विकार भाव नहीं रहता। वैसा भाव सिद्ध तीर्थंकर या केवली जीवोंके नहीं होता इससे वे पूर्ण और सच्चे विश्वप्रेमी हैं।

करमचन्दः—सिद्ध भगवन्तोंसे लोगोंको क्या लाभ होता है ?

ज्ञानचन्दः—द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूप सहित सिद्ध परमात्माके स्वरूपको जानकर सिद्ध भगवानके ध्यान द्वारा जीवोंको स्व-द्रव्य-परद्रव्य तथा उपाधिक-स्वभाविक भावका विज्ञान होता है; वह ध्यान अपनेको सिद्ध समान होनेका साधन होता है, इससे अपने साधने योग्य शुद्ध स्वरूपको दर्शानेके लिये सिद्ध प्रतिबिम्ब समान हैं। इसप्रकार सिद्ध भगवान 'विश्वप्रेमी' हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः—अपने गाँवके मनुष्योंको सुख देनेका, सुविधाएं देनेका, प्राण बचानेका इत्यादि कोई ऐसा भाव उसमें नहीं आया, फिर उसे 'प्रेम' कैसे कहा जाये ?

उत्तरः—अमुकको ही सुख इत्यादि देनेका भाव करे तो विश्व (समस्त)के प्रति प्रेम नहीं रहा। उसका सिद्धान्त यह है कि जीव जबतक अपना सच्चा स्वरूप न समझे, तबतक वह परके प्रति राग-द्वेष अल्प या अधिक किये बिना रहेगा ही नहीं, इससे अभी इससमय किसीके प्रति राग करेगा तो वह भाव (विकारी होनेसे) परिवर्तित हुए बिना रहेगा ही नहीं। और एक या अधिकके प्रति राग हो वहाँ दूसरोंके प्रति उसीसमय द्वेष है; क्योंकि सभीको समान नहीं गिना। रागके पश्चात् अज्ञानीको द्वेष प्रगट हुए बिना रहेगा ही नहीं; इसलिये जीव यदि अपना पारमार्थिक स्वरूप समझे तभी जगतके सर्व पदार्थोंके प्रति यथार्थ भाव रख सकता है, उसीको 'विश्वप्रेम' कह सकते हैं।

यह ध्यानमें रखना है कि, जीव अपना स्वरूप समझे बिना कभी भी राग या द्वेषको दूर कर ही नहीं सकेगा।

५:—प्रश्नः—सर्व जीवोंके प्रति समान रागवाला प्रेम हो सकता है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं; कदापि नहीं हो सकता। सभी जीवोंके प्रति समान रागवाला प्रेम तो नहीं ही हो सकता; परन्तु सभी मनुष्यों (जिसमें अपना समावेश होता है)के प्रति भी समान प्रेम नहीं रह सकता। एक मनुष्य भोजन करते समय-जगतके समस्त मनुष्योंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोजन लिया या नहीं, भोजन ले रहे हैं या नहीं, उन सबको पर्याप्त और अच्छा भोजन मिले तभी मैं भोजन करूँगा—ऐसा कभी नहीं कर सकता, परन्तु सबका स्वरूप जैसा है वैसा जानकर उनके प्रति कर्तृत्व–ममत्व–राग–द्वेष न करे वही उनके प्रति यथार्थ (अकषायी) प्रेम है।

प्रेमके विभाग करते समय—रागरहित प्रेम और राग-सहित प्रेम—ऐसे दो भेद किये थे; उसमें रागरहित प्रेमका जो स्वरूप कहा वह पूर्णरीत्या अमलमें लानेवाले वीतरागी जीव और सिद्ध भगवान हैं; इससे उन्हें शास्त्रमें 'अकषायी करुणासागर' कहा है।

६:—करमचन्द:—विश्वप्रेमको अपूर्णरूपसे कौन अमलमें ला सकता है ?

ज्ञानचन्द:—छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीव।

करमचन्द:—छद्मस्थ यदि वीतरागी न हो उसे तो 'राग' होता है, फिर वह 'विश्वप्रेम' कैसे कहा जा सकता है ?

ज्ञानचन्द:—वे ऐसा नहीं मानते कि—परका भला–बुरा हम कर सकते हैं; इसलिये अपने हितके लिये जब स्वत: शुद्धतामें नहीं रह सकते तब किसीको दु:ख देने आदिके भाव नहीं करते, और लोभादिको दूर करनेसे दानादिके जो शुभ भाव उनके होते हैं उनके स्वामी नहीं होते, इससे उस अपेक्षासे उनके 'अपूर्ण-विश्वप्रेम' है—ऐसा कहा जा सकता है। सम्पूर्ण वीतरागी होनेसे वे 'सम्पूर्ण विश्वप्रेमी' हो जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—जो आत्माके स्वरूपको यथार्थतया न जानते हों, वैसे जीवोंके विश्वप्रेम हो सकता है या नहीं ?

ज्ञानचन्दः—नहीं, उनके नहीं हो सकता। 'आत्माका हित मोक्ष ही है'—ऐसा जो यथार्थरूपसे निश्चित करता है उसे 'विश्वप्रेम' हो सकता है।

प्रकरण : ३७

पाप दूर करनेका सच्चा उपाय क्या है ?

प्रसंग—पहला

१:—प्रश्न—आप एकबार कहते थे कि पुण्यसे धर्म होता है, इस लौकिक मान्यतामें ही पुण्यसे धर्म नहीं होता—ऐसा अव्यक्त-रूपसे आता है, वह किसप्रकार ?

उत्तरः—पुण्यसे धर्म होता है, इस मान्यतामें पाप छोड़ने जैसा है—ऐसी मान्यता आई या नहीं ? ('मान्यता' शब्दका उपयोग इसलिये किया है कि—'मान्यता' (सम्यक् अभिप्राय) होते ही चारित्र एकदम प्रगट हो ऐसा नहीं होता; परन्तु उसीसमय अंशतः क्रमशः प्रगट होता है और क्रमशः पूर्ण होता है।)

प्र०:—पाप छोड़ना ही चाहिये—ऐसी मान्यता तो आयी ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तब फिर महापाप तो तुरन्त ही टालना चाहिये या उसे बनाये रखना ?

उ०:—महापाप प्रथम ही दूर करना चाहिये।

प्र०:—महापाप कौनसा है ?

उ०:—मिथ्यात्व ही महापाप है।

प्र०:—जिसे आप महापाप कहते हो, उस मिथ्यादर्शनके दूसरे नाम बतलाओगे ?

उ०:—हाँ, उसे स्वरूपकी अप्रतीति, अज्ञान्, अविद्या, मिथ्या प्रतिभास भी कहा जाता है।

प्र०:—तब फिर, जिसकी ऐसा मान्यता है कि—पाप दूर करना ही चाहिए, उसे मिथ्यादर्शनरूपी महापाप दूर करना ही पड़ेगा। और यदि जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे तभी वह दूर हो, यह बात सत्य है या नहीं ?

उ०:—हाँ वैसा ही है।

प्र०:—तब तो सम्यग्दर्शनसे मिथ्यादर्शनरूप महापाप दूर हो वैसा आया; और सम्यग्दर्शन कहो कि धर्मका प्रारम्भ कहो—सच्ची समझ कहो अथवा सच्चा (सम्यक्) ज्ञान कहो—वह एक ही अथवा एक साथ रहने वाले हैं—इससे ऐसा हुआ शुद्ध भावका प्रारम्भ होनेसे महापाप दूर हो सकता है। क्यों यह बराबर है न ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उ०:—हाँ, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें पुण्यभावसे धर्म नहीं होता तथापि पुण्यसे धर्म होता है—ऐसा लोग मानते हैं।

प्र०:—उसका क्या कारण है ?

उ०:—सामान्यरीत्या लोग इस सम्बन्धमें विचार नहीं करते। बचपनसे स्वतः सुना होता है कि पुण्यसे धर्म होता है। अपने बड़ोंके पाससे भी वैसा ही सुनता है और धर्मस्थानोंमें भी अधिकतर वैसा ही सुननेमें आता है। यह मान्यता अनादिसे चली आ रही है और ज्यों-ज्यों उसकी आयुमें वृद्धि होती जाती है वैसे ही उसकी पुष्टि होती जाती है। उसका परिणाम यह आता है कि यदि कोई कहे कि पुण्यसे धर्म नहीं होता—महापाप दूर नहीं होता तो उसे बिजलीके शॉक जैसा झटका लगता है। इसे सच्चे ज्ञानका तिरस्कार तथा सुननेकी ओर अरुचि होती है। परन्तु तटस्थ होकर शान्तिसे उसके सभी पक्षोंका विचार करे तो तत्त्व-जिज्ञासु को ही यह बात तुरन्त समझमें आजाये।

करमचन्दः—इसके दूसरे पक्ष क्या हैं उनपर हम फिर चर्चा करेंगे।

ज्ञानचन्दः—बहुत अच्छा।

(दोनों चल देते हैं)

प्रसंग—दूसरा

३:—करमचन्दः—पुण्यके दूसरे पक्ष हैं—ऐसा आप कहते थे वे आज बतलाइये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—देखो, पुण्यका इच्छुक जिस समय पुण्य करना चाहता है उसी समय पापका बंध हो ऐसी इच्छा रखता है ?

करमचन्दः—जो पुण्य करना चाहता है वह उसी समय यदि पाप भी लगता हो तो वह पुण्यका इच्छुक कैसे कहलायेगा ? नहीं कहला सकता।

ज्ञानचन्दः—आपने यह स्वीकार किया; तब फिर मैं आपसे पूछता हूँ कि, आप यह तो जानते हैं न कि, शुभभाव (पुण्य-भाव) करते समय, जिसे आत्मस्वरूपका ज्ञान न हो उसके सच्चा ज्ञान-सच्ची प्रतीति-सच्चे चारित्र और वीर्यका घात होता है तथा इससे उनके घातिया कर्म—आवरण बँधते हैं और वे सब पाप ही हैं।

करमचन्दः—आप कहते हो उसपरसे मुझे याद आता है कि शुभभाव होनेसे चारों घातिया कर्मोंकी प्रकृतियाँ बँधती हैं—ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं; इसलिये आपकी यह बात सत्य है।

ज्ञानचन्दः—तब पुण्यभाव करनेसे, आत्मस्वरूपके अजान-को आत्माके निजगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वीर्य इत्यादिके घातक पापकर्ममेंसे कौनसा दूर होगा ? और कौनसा नहीं बँधेगा ?

करमचन्दः—एक भी नहीं।

ज्ञानचन्दः—तब फिर आप ही कहिये कि कौन-कौनसे शुभभाव करते-करते इस भवमें, इस भवमें नहीं तो दूसरे भवमें सम्यक्त्वका गुण प्रगट होगा ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—ऐसा एक भी शुभ भाव नहीं है जिसे करते-करते अनन्तकाल बीत जाये तथापि सम्यक्त्व प्रगट हो और मिथ्यात्वका महापाप दूर हो।

ज्ञानचन्दः—तब फिर जो आत्मस्वरूपके अज्ञानी हैं उन्हें तो ज्ञाता स्वभावके विरोधकी दृष्टि होनेसे पुण्य (शुभ) भाव करते हैं उसीसमय भी मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी अनन्तपाप-जो-अनंत संसारकी वृद्धि करनेवाला है वह उसे बँधता ही है, तो फिर आप मध्यस्थ होकर विचार करें कि वह पुण्यका सच्चा पक्षपाती कहलायेगा ?

करमचन्दः—नहीं कहलायेगा। परन्तु तब प्रश्न उठता है कि—पापका नाश कौन कर सकता है ?

ज्ञानचन्दः—सम्यग्दर्शन हो उसीसमय मिथ्यात्व और अनन्त संसारको बढ़ानेवाले क्रोध–मान–माया–लोभ उत्पन्न ही नहीं होते और ४१ पाप कर्मोंकी अशुभ प्रकृतियाँ तो बँधती ही नहीं; और दूसरे पाप क्रमशः उसके न बँधकर अन्तमें वह पापबंधसे रहित हो सकता है।

करमचन्दः—आपने बहुत स्पष्ट बात की, परन्तु यह विषय किसी अन्य प्रकारसे विचारा जा सके वैसा है ?

ज्ञानचन्दः—अनेक पक्षोंसे उसपर विचार हो सकता है; और उन सबका परिणाम एक ही आता है; क्योंकि सत्य तो सत्य ही रहता है। परन्तु उस विषयको फिर कभी लेंगे।

(दोनों मित्र पृथक् हुए)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसंग—तीसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

स्वरूपकी समझके बिना पुण्य और पापचक्र चलते रहते हैं ।

करमचन्दः—कहिये; अन्य किस प्रकारसे इस बात पर विचार हो सकता है ?

ज्ञानचन्दः—जिसे आत्मस्वरूपका लक्ष्य नहीं है, उसके कषायचक्र चालू रहनेसे शुभके पश्चात् तुरन्त ही अशुभ आता है यह जानते हो ?

करमचन्दः—यह बात उदाहरण देकर समझाइये ।

ज्ञानचन्दः—प्रथम तो हमें विचार करना चाहिये कि—शुभ (पुण्यभाव) क्या है और पापभाव क्या है। देखो, आगे आपको बतलाया था कि पुण्यभाव करनेवाला जीव जिसे आत्म-स्वरूपका सच्चा ज्ञान नहीं है, वह शुभभाव करते समय ही मिथ्या-त्वादि पापका बंध करता है। परन्तु यह तो उससे अपूर्वतासे आगे बढ़नेकी बात है इसलिये इसे लक्ष्यपूर्वक सुनना ।

करमचन्दः—लक्ष्यपूर्वक सुनकर उसकी तुलना करूँगा ।

प्रश्नः—एक मनुष्यको आपने दान दिया; और फिर आप सांसारिक व्यापारादि कार्योंमें लगते हैं ?

उत्तरः—हाँ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः—आपका व्यापारादि धंधेका भाव शुभ है या अशुभ ?

उत्तरः—उसे शुभ कैसे कहा जा सकता है ? वह तो अशुभ-भाव है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर ऐसा हुआ कि, शुभभाव मिटनेके पश्चात् अशुभभाव तो तुरंन्त आता है। इसलिये पुण्यका सतत-धारावाही चलना तो नहीं रहा; और पुण्यके सच्चे अनुमोदकको तो चौबीसों घंटे पुण्य करना चाहिये।

करमचन्दः—लेकिन यह कैसे हो सकता है ?

ज्ञानचन्दः—अज्ञानीसे नहीं बन सकता, परन्तु ज्ञानीके कितने ही पद वैसे हैं जिनमें वैसा होता है।

करमचन्दः—मुझे भी विचार करनेसे ऐसा लगता है कि शुभभाव सतत चालू नहीं रहता; शुभका काल पूर्ण हुआ कि तुरन्त ही कोई अशुभ आता है। ऐसा भी होता है कि शुभ करनेका विचार कर रहे हों वहाँ अशुभ भाव ताकता है।

ज्ञानचन्दः—शुभभाव, अशुभभावकी भाँति क्षणिक है, उत्पन्नध्वंसी है, विकारी है। वे दोनों मोह राजाकी सेनाके सेनापति हैं। शुभ है वह मोह राजाकी कढ़ी है और वह Supercially (ऊपरी दृष्टिसे) मीठी-मधुर लगती है। इसलिये पुण्यके पक्षपातीको प्रथम उसका यथार्थस्वरूप समझ लेना चाहिये। समय हो चुका है इसलिये हम चलेंगे।

(दोनों चले गये)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसंग—चौथा

पुण्यका स्वरूप

५:—करमचन्दः—पुण्यका स्वरूप तो छोटासा बच्चा भी समझता है, उसमें समझने जैसा क्या है ?

ज्ञानचन्दः—बतलाइये ! छोटा बच्चा किस प्रकार समझता है।

करमचन्दः—किसी जीवका प्राणघात करना, असत्य बोलना, चोरी करना, अब्रह्मचर्य, परिग्रही होना,—यह सब पाप हैं; किसी जीवको दुःखी देखकर दान देना, सेवा करना, उसे बचा लेना, अन्न-पानी देना इत्यादि पुण्य है।

ज्ञानचन्दः—ठीक है। तत्त्व दृष्टिसे यह अभिप्राय बराबर है या नहीं, इसपर हम विचार करें। परन्तु विचार करनेसे पहले यह जाननेकी आवश्यक्ता है कि यह मान्यता बालकोंकी ही है या बड़ोंकी भी ?

करमचन्दः—बड़ोंकी भी यही मान्यता है। उसमें मात्र इतना अन्तर है कि बड़े जोर शोरसे इस मान्यताकी घोषणा करते हैं—उसका अनुकरण करनेके लिये दूसरोंको प्रेरित करते हैं और उनके उपदेशसे या कहनेसे लोग दान देते हैं—ऐसा भी देखनेमें आता है।

ज्ञानचन्दः—तब, बतलाइये—एक मनुष्यको मारनेके लिये किसीने बंदूक मारी, लेकिन वह आदमी बच गया; तो बंदूक मारने वालेको पाप तो लगा या नहीं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—हाँ, पाप तो अवश्य लगा।

ज्ञानचन्दः—किसलिये ? मनुष्य मरा तो नहीं है, फिर पाप कैसे लगा ?

करमचन्दः—मार डालनेका भाव था इसलिये।

ज्ञानचन्दः—आपके अपने उत्तरसे तो ऐसा निश्चित् हुआ कि—जीवको मार डालनेका भाव किया उससे पाप हुआ—न कि सामनेवाले जीवके जीनेसे या मरनेसे ? जीव मरे या न मरे उसके साथ पापकी उत्पत्तिका संबंध नहीं है; पाप तो जीवमें होता है, इसलिये जीवका तीव्र कषायभाव वह पाप है। हिंसा तो अपने भावोंपरसे ज्ञात होती है—ऐसा निश्चित् हुआ।

करमचन्दः—परन्तु आपने तो जीव बच गया, उसका दृष्टान्त दिया; जीव मर जाये उसका उदाहरण लीजिये।

ज्ञानचन्दः—भले, वैसा ही ले लो। एक मनुष्य दुःखी है, उसे भूख लगी है, और उसे भूख मिटानेके लिये आपने उसे बिल्कुल हल्का-सादा भोजन दिया; लेकिन वह उसे नहीं पचा, विपरीत हुआ, और उससे वह मर गया,—तो आपको पुण्य लगा या पाप ?

करमचन्दः—यह तो पुण्य है, इसमें पाप कैसे कह सकते हैं। भोजन देनेवालेका भाव तो उसे अनुकूलता देनेका था; इसलिये पुण्य कहलायेगा।

ज्ञानचन्दः—तब फिर जो मनुष्य जैसा एक प्राणी मर गया, उसे किसके खातेमें लिखोगे ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—विचार करनेसे तो ज्ञात होता है कि, प्राणी जिये या मरे, उसके साथ पुण्य-पापका सम्बन्ध नहीं है। अपने-अपने भावोंके साथ सम्बन्ध है। और वही नियम सत्य-असत्य इत्यादिको लागू होता है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर आप जो कहते थे कि बच्चा भी पुण्यका स्वरूप समझता है वह ठीक है ?

करमचन्दः—वह मान्यता सच्ची नहीं है। जीव शुभ भाव करे (पश्चात् सामनेवाले प्राणीको लाभ-हानि कुछ भी हो) तो पुण्य और अशुभभाव करे (पश्चात् सामनेवाले प्राणीको लाभ या हानि कुछ भी हो) तो पाप माना जाता है।

ज्ञानचन्दः—आपकी बात बराबर है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि शुभभाव करनेसे पापका बंध भी होता है—इसमें आपको कुछ नवीनता मालूम होती है ?

करमचन्दः—नवीनता अवश्य लगती है, इसलिये स्पष्टताकी आवश्यक्ता है। अब फिर हम उस विषय पर चर्चा करेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है।

(दोनों चले जाते हैं)

प्रसंग—पाँचवाँ

शुभभाव करनेसे पापबंध भी होता है। उसका कारण ?

६:—करमचन्दः—शुभभाव करनेसे पापका बंध भी होता है; वह कैसे ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्द:—इस सम्बन्धमें विचार करते हुए हम दो प्रकार के जीवोंको लेंगे।

(१) आत्मस्वरूपसे अजान (२) आत्मस्वरूपका ज्ञाता-साधक जीव।

उसमें प्रथम—आत्मस्वरूपसे अजानको पहले जानना लाभदायक है।

७:—करमचन्द:—ठीक है, आत्मस्वरूपसे अजानको पहले लेना बिल्कुल ठीक है।

ज्ञानचन्द:—देखो, वह तो ऐसा मानता है कि—(१) मैं पर जीवको मार सकता हूँ (२) पर जीवको जिला (बचा) सकता हूँ (३) पर जीवको दुःख दे सकता हूँ, (४) पर जीवको सुख दे सकता हूँ। ऐसा वह मानता है या नहीं ?

करमचन्द:—हाँ, दूसरेको मार सकता हूँ; दूसरेको दुःख दे सकता हूँ—ऐसा मानता है; और वैसे कृत्यको लोग पाप कहते हैं, मानते ही हैं। तथा वह ऐसा भी मानता है कि—दूसरेको जीवित रख सकता हूँ, उसे सुख दे सकता हूँ; वैसे कृत्यको लोग पुण्य कहते हैं।

ज्ञानचन्द:—वैसी मान्यता बालककी है या बड़े की ?

करमचन्द:—छोटे-बड़े सभीकी वैसी मान्यता है।

ज्ञानचन्द:—हम एक महासभा बुलाएँ, और उसमें उपरोक्तानुसार पुण्य-पापकी व्याख्या रखें, तो वह प्रस्ताव पास होगा या नहीं ?

करमचन्द:—अवश्य ही पास हो जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—उससे विरुद्ध यदि कोई उस सभामें कहे कि देखो भाई ! जो प्रस्ताव आप पास करना चाहते हो वह भूलसे भरा हुआ है; कोई किसीको मार या जिला नहीं सकता; सुख–दुःख नहीं दे सकता; तो उसके कथनका क्या प्रभाव होगा ?

करमचन्दः—अरे ! प्रमुख लोग झल्ला उठेंगे, और कहेंगे कि—अरे ! ऐसा कहनेसे तो समाजको भारी हानि होगी। जो महावीर भगवानने कहा उसका यह लोप करते हैं; इत्यादि कहकर भाषण देने लग जाएँगे। कहेंगे कि भाई ! धर्मका लोप होने लगा है ! ऐसा मेरा अनुमान है।

८:-ज्ञानचंद-देखो भाई ! वह मान्यता भूलयुक्त है, इस सम्बन्धमें पहले आपसे कुछ कहा था। अब फिरसे चर्चा करें। जिज्ञासु-बुद्धिसे—खुले हृदयसे चर्चा करनेसे सत्य–असत्यक खबर पड़ती है। इसलिये आपसे पूछता हूँ कि, देखो; निम्नानुसार होता है ?

(१) एक डॉक्टर रोगीको अच्छा करनेके लिये, उससे बन सके उतनी सँभालके साथ उसका दुःख दूर करनेके हेतुसे OPERATION (औपरेशन) करता है; लेकिन रोगी टेबल पर ही मर जाता है ?

(२) एक मनुष्य दूसरेको मार डालनेके अभिप्रायसे विष देता है, और दूसरा मनुष्य विष खा लेता है; उसके परिणाम-स्वरूप वह तो मरता नहीं है, परन्तु उसे बहुत समय पहलेका कोई रोग हो तो वह उससे मिट जाता है—ऐसा बनता है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको यह मानकर कोई चीज देता है कि इससे वह सुखी होगा; लेकिन वह चीज उसे पसन्द नहीं आती, और सुखके बदले दुःख होता है ?

(४) एक पिता, पुत्रके भलेके लिये उसे शिक्षा दे कि भाई अपनेको असत्य बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना आदि व्यसन अच्छे नहीं हैं; तथापि पुत्र नहीं मानता; ऐसा होता है या नहीं ? उसे सुखी होनेके लिये दी गई शिक्षा उसे अरुचिकर प्रतीत होती या नहीं ?

(५) गजसुकुमारने अपने ससुरके सिर पर जलती हुई अग्नि उसे दुःख देनेके लिए रखी थी, परन्तु उसे वीतरागता द्वारा कषाय न करनेसे दुःख न होकर सुख हुआ, मोक्ष हुआ, अविनाशी कल्याण हुआ, यह सत्य है या नहीं ?

(६) विद्यार्थी पढ़े, उसका सुधार हो, और भविष्यमें सुखी हो—उस हेतुसे शिक्षक उससे अपने पाठ बराबर याद करनेके लिये कहता है, और वह विद्यार्थी वैसा न करे तथा शिक्षकको बुरा कहे ऐसा होता है या नहीं ?

(७) भगवान (ज्ञानी) इस जगतमें अनन्त हुए, उन्होंने जगतके कल्याणके लिये उपदेश दिया, परन्तु उसके सुननेवाले सभी ज्ञानी हुए ही नहीं। जगतके अधिकांश जीवोंने सुधरनेसे इन्कार किया और कितनोंने उनकी धर्म सभामेंसे बाहर निकलकर घोर विरोध किया; ऐसा होता है या नहीं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८) यह जीव स्वतः अनन्तबार तीर्थंकर भगवन्तोंकी धर्मसभामें गया। भगवानका कल्याणकारी उपदेश सुननेको मिला; परन्तु महान विपरीतता करके उस उपदेशको अस्वीकार किया और केवलीके निकट भी कोरा रह गया। ऐसा आपने सुना है या नहीं ?

(९) एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यको मारनेके लिये गया। लेकिन वह मनुष्य तो नहीं मरा, और एक दूसरा मनुष्य यकायक बीचमें आगया और मर गया; ऐसा होता है या नहीं ?

(१०) एक साल बंगालमें अनाजकी भारी कमी पड़ गई, करुणाबुद्धि जीव जितना अपनेसे बन सके उतना अनाज सबको बाँटना चाहते थे; किन्तु उनकी इच्छानुसार नहीं हो सका; ऐसा हुआ था या नहीं ?

९:—करमचन्दः—इन सब सिद्धान्तों पर मैंने विचार किया सब यथार्थ हैं; उन परसे निम्न सिद्धान्त निकलते हैं:—

१—जीव स्वयं शुद्ध, शुभ या अशुभ भाव कर सकता है—दृष्टान्तोंका विभाग निम्नप्रकार हो सकता है:—

शुद्ध	शुभ	अशुभ
	१-३-४	२-५-६
७-८	९-१०	

२—परवस्तुका परिणमन (अवस्था) इस जीवके आधीन नहीं है।

३—जो जीव जीता रहा उसका शरीर और जीव उस समय पृथक् होने योग्य नहीं था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४—जो मर गया उसका शरीर और जीव उससमय पृथक् होने योग्य था।

५—परके ऊपर किसीका अधिकार नहीं चलता, इससे पिता-पुत्रका, शिक्षक-विद्यार्थीका या तीर्थंकर, केवली किसी दूसरे-का कुछ नहीं कर सकते, परन्तु स्वतः अपने अन्दर अपने भावका स्वतः पुरुषार्थ कर सकता है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर बतलाइये कि कोई किसी पर-का भला-बुरा कर सकता है यह मान्यता यथार्थ है ?

करमचन्दः—बिल्कुल नहीं; लोकमें प्रचलित मान्यता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ' बिल्कुल मिथ्या है।

१०:—ज्ञानचन्दः—उस मिथ्या मान्यताको मिथ्यादर्शन कहा जाता है, वह पाप ही है या नहीं ?

करमचन्दः—वह अवश्य पाप है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर लोक व्यवहारमें पुण्यकी जो मान्यता प्रचलित है उस मान्यतापूर्वक होनेवाले शुभभावमें इस मिथ्या मान्यताका पाप साथमें आया या नहीं ?

करमचन्दः—आया। और वह पुण्यके सच्चे पक्षपातीको दूर करना ही चाहिये।

ज्ञानचन्दः—परन्तु वह महापाप किसलिये है, उसका निर्णय किया है ?

करमचन्दः—नहीं; अब फिर मिलेंगे तब उस पर विचार करेंगे।

(दोनों मित्र पृथक् हुए)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ३८

पाप दूर करनेका सच्चा उपाय क्या है ?

प्रसंग—छठवाँ

करमचन्दः—मैं परका भला-बुरा कर सकता हूँ; सुख-दुःख दे सकता हूँ—यह मान्यता मिथ्या है। उसे पाप कहते हो वह बराबर है; परन्तु महापाप किसलिये कहते हो ? (इतना ठीक है कि जीव अपूर्ण अवस्थामें परको सुख-दुःख देनेका भाव कर सकता है)

ज्ञानचन्दः—वह महापाप है; इसका यह कारण है कि—(१) जीव दूसरेका कुछ नहीं कर सकता और अपना कर सकता है; यदि परका भी कर सकता हो स्व-परका भेद न रहे, दो तत्व दो न रहकर एकमेक तन्मय हो जाँय अर्थात् स्वयं और पर एक हो जायें। जैसे अपना कर सकता है वैसे ही परका कर्ता बने तो, पर तो अनन्त वस्तुएँ हैं, इसलिये स्वयं और अनन्त पर वस्तुयें उसकी मान्यतामें एक ही हुई; जैसे वह अपना स्वामी है उसी प्रकार अनन्त पर वस्तुओंका स्वामी हुआ। यह मान्यता स्व-परका चतुष्टय क्या है वह नहीं जाननेसे निरन्तर ऐसी ही भूल करता आया है, और इसीके कारण परवस्तुमें इष्टता-अनिष्टता मानता है; इसप्रकार यह मान्यता समस्त दुःखोंका मूल होनेसे वह महा-पाप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करमचन्दः—यह बात मैं समझ गया। उसका सार मैं कहता हूँ। यदि उसमें कुछ अन्तर हो तो आप सूचित करना।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है; कहिये !

करमचन्दः—आपने जो कहा उसका सार निम्नप्रकार है:-

(१) एक जीव, किसी परका कुछ नहीं कर सकता। कारण कि किसी भी हरेक द्रव्यके द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमें अन्य वस्तुके द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावका तीनों काल अभाव ही है।

(२) स्वतः अपनेमें विकारी या अविकारी भाव कर सकता है।

(३) सम्पूर्ण अविकारी भाव प्रगट न हो वहाँतक जीवको अशुभ भाव टालकर, शुभभाव करनेका भाव आता है परन्तु उन भावोंको वह धर्म नहीं मानता। धर्म तो निज ज्ञायकस्वभावी धर्मी निज शुद्धात्मामें होनेसे उसीके आश्रयसे धर्मकी उत्पत्ति, टिकना–बढ़ना और पूर्ण होना मानता है।

(४) ऐसा करनेसे अनन्त पर वस्तुओंके ऊपरका ममत्व अभिप्रायमेंसे छूट जाता है, और उससे जो दान, दया, तप, पूजा, सेवा इत्यादिका राग आता है वे अपने अशुभ भावोंको दूर करनेके लिये—लोभ कषाय कम करनेके लिये है—किन्तु परके लाभके लिए नहीं; इसलिये पर चाहे जैसा वर्ते, तथापि अपनेको अंदरमें प्रसन्नता या अप्रसन्नता नहीं होती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५) स्वतः अपनेमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करता है। और न रह सके, तब तीसरे पैरेमें कही हुई मान्यतासहित चौथे पैरेमें बताये अनुसार वर्तन करता है। तथा जो राग रहता है उसमें कभी भी किंचित् भी अपना स्वामित्व नहीं मानता।

ज्ञानचन्दः—ठीक है; विशेष चर्चा फिर करेंगे।

(दोनों प्रस्थान करते हैं)

प्रसंग—सातवाँ

आत्मस्वरूपके ज्ञाता सम्यग्दृष्टि साधक जीवके पुण्यका स्वरूप। पुण्यका अधिकार उसका है?

करमचन्दः—इस सम्बन्धमें विचार करनेसे प्रश्न उठता है कि तीर्थंकर नामकर्म ऐसा है कि, जिस जीवके वह कर्म हो वह अवश्य वीतराग होता है, इसलिये जिसभावसे तीर्थंकर पदकी प्राप्ति हो वह शुभभाव है तो उसे उपादेय क्यों न मानना ?

ज्ञानचन्दः—आपके प्रश्नका उत्तर देनेके लिये आपसे निम्न विषयोंको जान लेना चाहिये :—

(१) वह शुभभाव मिथ्यादृष्टिके होता है या सम्यग्दृष्टिके ?

(२) उस भावको सम्यग्दृष्टि उपादेय—अनुसरणयोग्य, हितरूप मानता है ? अर्थात् आत्माका स्वरूप मानता है या विकार मानता है ?

करमचन्दः—(१) वह भाव तो सम्यग्दृष्टिके ही होता है, मिथ्यादृष्टिके नहीं होता, और वह भाव रागरूप-दोष ही है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिये श्रद्धामें प्रथमसे ही सर्व प्रकारके रागको हेय मानता है—करने योग्य है ऐसा जरा भी नहीं मानता।

(२) सम्यग्दृष्टि उस भावको निजस्वरूप नहीं मानता—उस भावको जो निजस्वरूप माने उसके तो वह भाव होता ही नहीं।

ज्ञानचन्दः—यह बराबर है। जो-जो तीर्थंकर भगवान होते हैं, वे प्रथम अपने पुरुषार्थसे सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं, और जो राग रहा है वह हेयरूप-दुःखरूप मानते हैं अतः रागका राग नहीं है इससे वीतरागी दृष्टि-ज्ञानवानको जो राग रह जाये उसमें उस भावका निमित्त पाकर तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।

करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि व्यवहारसे शुभभावका अधिकार सम्यग्दृष्टिओंने ही रखा है।

ज्ञानचन्दः—उनका अधिकार तो शुद्धता प्रगट करनेका है, परन्तु उसमें अपूर्णता हो तब सातिशय पुण्य प्रकृतियोंका अवांच्छित वृत्तिसे बंध हो जाता है। उसे आप पुण्यका अधिकार कहना चाहते हैं तो कहिये; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो उस रागभाव तथा तीर्थंकर प्रकृति—दोनोंको उपादेय नहीं मानते। सातिशय पुण्यको पुण्यानुबंधी पुण्य कहा जाता है। जो सम्यग्दृष्टिके होता है, परन्तु उसका वह स्वामी नहीं है इससे उसे आया—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। सम्यग्दृष्टि तो मात्र उसका व्यवहारनयसे ज्ञाता-दृष्टा है।

करमचन्दः—आत्मस्वरूपका अनुभव किया ही नहीं ऐसे अज्ञानीको पुण्य होता है उसका कोई मुख्य नाम है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—हाँ, उसे पापानुबंधी पुण्य कहा जाता है।

करमचन्दः—उस पुण्यका स्वरूप क्या है?

ज्ञानचन्दः—श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय-२ गाथा-२० में निम्नानुसार बतलाया है :—

पुण्णे ण होइ विहवो विहवो विहवेण मओमएम मइ-मोहो।
मइ-मोहेणयपावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥२०॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मति मोहः।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥२०॥

अर्थः—पुण्यसे घरमें धन होता है, धनसे अभिमान होता है, अभिमानसे बुद्धि भ्रम होती है, बुद्धि भ्रम होनेसे पाप होता है; इससे ऐसा पुण्य हमें न हो!

टीकाकार कहते हैं कि—मिथ्यादृष्टिको पुण्यके फलसे प्राप्त हुई सम्पदासे अभिमान होता है; अभिमानसे बुद्धि भ्रष्ट होती है; बुद्धि भ्रष्ट होनेसे पाप होता है। और पापसे भव-भवमें अनन्त दुःख पाता है। इससे मिथ्यादृष्टिओंका पुण्य पापका ही कारण है।

सम्यक्त्वादि गुण सहित विवेकी जीवको पुण्यबंध, अभिमान उत्पन्न नहीं करता। वैसे जीव चाहे जैसी महान विभूतिको प्राप्त हुए हों, तथापि मंद-अहंकारादि विकल्पोंको छोड़कर सम्पूर्ण पवित्रता प्रगट करते हैं। मिथ्यादृष्टिओंको पुण्यका फल-विभूति गर्वका कारण होता है और सम्यग्दृष्टिओंको नहीं होता।

करमचन्दः—आपने जो कहा, उस परसे तो स्पष्ट होता है कि—जीवको दुःखसे छूटना हो तो—दुःख काहेसे होता है और वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैसे दूर हो ? उसका सूक्ष्म दृष्टिसे निर्णय करना ही चाहिये। अनादिकालसे वह भूल चली आ रही है। पुण्यका स्वरूप बराबर समझना चाहिये, ताकि यह भ्रमणा दूर हो जाये कि—पुण्यसे धर्म होता है, और यह भी समझमें आ सके कि पुण्यकी मर्यादा कितनी है। पाप क्या है, और उसमें महापाप क्या है—उसका स्वरूप समझना चाहिये; उसके अतिरिक्त कभी भी सच्चा सुख मिलता ही नहीं। पुण्यका स्वरूप न समझे तो पुण्यको हेय कैसे मान सकेगा ? अज्ञानीको तो कोई शुभ भाव हो, तब उसका अव्यक्त अभिमान होता ही है—'मैं परका भला कर सकता हूँ'—ऐसा मानता हो तब भी उसको नम्रता-करुणा बुद्धि हो, किन्तु मैं परका कर सकता हूँ—मुझे करना ही चाहिये—यह मेरा कर्तव्य है, पुण्य भी मेरा कर्तव्य है—ऐसी भ्रमणा होनेसे उसके अन्दर अव्यक्त अभिमान होता ही है।

ज्ञानचन्दः—ठीक है, वैसे अभिमानको शास्त्रकी परिभाषा में 'अनंतानुबंधी मान' कहते हैं।

करमचन्दः—वह बराबर है। क्योंकि यदि एकका भला किया जासके तो अनन्तका किया जा सकता है, और इससे वह अभिप्रायमें अनन्त परवस्तुका स्वामी हुआ। मैं सबका सेवक हूँ—ऐसा मानले तो भी वह भूल है। सम्यग्दृष्टि तो जिन-जिन शुभ भावोंमें युक्त होता है वे किसीके भलेके लिये नहीं; परन्तु अपनेको कषायकी पीड़ाके समाधानके लिये—अर्थात् अशुभराग दूर करनेके लिए पुण्यभाव करता है। राग सदा पर लक्ष्यसे होता है; परको जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभ होता हो वह तो उनके अपने भावोंके कारणसे होता है। यह मैं समझ गया। इसप्रकार यह विषय पूर्ण होता है।

ज्ञानचन्दः—आप समझनेकी जिज्ञासा रखते हो वह अनुमोदनकी पात्र है। इस मान्यताको लक्ष्यमें रख कर उसका खूब मंथन करना—उसके लिये स्वाध्याय आदि करना, शास्त्रोंके अर्थोंकी पद्धति नय विभाग और प्रयोजन सहित बराबर समझना; इससे उसकी मान्यता और ज्ञान अधिक निर्मल होगा। सत्य किसप्रकार है, उसे यदि स्वोन्मुख होकर स्वतः जानेगा तो असत्यको दूर करेगा।

(विशेष फिर)

प्रकरण : ३९

सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' कब होता है ?

१:—'मिच्छामि दुक्कडं'—यह मागधी भाषाका पद है। उसका संस्कृत 'मिच्छामि दुष्कृत्यं'—ऐसा होता है, और उसका हिन्दी अर्थ 'मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होओ'—ऐसा होता है।

२:—तब, "दुष्कृतं" क्या है यह प्रथम समझना चाहिये। मिथ्यात्व है वह महापाप है, और इससे वह महान्से महान् "दुष्कृतं" है। जीव जिस कुलमें जन्म लेता है उस कुलमें बहुधा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई न कोई धर्मकी मान्यता होती है। कुल-धर्मकी उस मान्यताको घरमें पोषण मिलता है। बड़ा होने पर धर्म स्थानोंमें जानेसे उस मान्यताकी विशेष पुष्टि होती है। और धंधेमें फँस जाने के कारण, कुलधर्मकी मान्यताका यथार्थ स्वरूप क्या है—उसकी विचारणाका उसे समय नहीं मिलता। इसलिये ओघसंज्ञासे जो क्रियाएँ स्वतः या अपने सगे-संबंधी करते हैं वह धर्म होना चाहिये—ऐसा मानकर अपना जीवन चलाता है। "आत्माका स्वभाव" धर्म है—ऐसा सुननेके लिये तो बहुधा उसे नहीं मिलता। और इसप्रकार अपने स्वभावके घोर अज्ञानका सेवन करता रहता है। यह घोर अज्ञान पहले नम्बरका "दुष्कृत" है। इसलिये उसे अज्ञानको दूर करके अपना यथार्थ स्वरूप जाननेकी आवश्यक्ता है। उसे जाने बिना सच्चा सुख प्रगट नहीं हो सकता और यथार्थ "मिच्छामि दुक्कडं" नहीं होता।

३:—सच्चा "मिच्छामि दुक्कडं" क्या है वह समझनेके लिये एक पाठ नीचे दिया गया है।

"अंध बनी अज्ञानथी कर्यो अतिशय क्रोध, ते सवि मिच्छामि दुक्कडं"

ऐसे पाठ अनेक जीव बोलते हैं, पढ़ते हैं; परन्तु उनका अर्थ समझकर यथार्थ "मिच्छामि दुक्कडं" नहीं करते। इससे इस सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी आवश्यक्ता है।

४:—उपरोक्त पदमें 'अज्ञान' से अन्ध बना-ऐसा कहा है, परन्तु अज्ञानको दूर करनेके लिये तो जीव परिश्रम नहीं करे और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह पद बोला करे इससे 'अज्ञान' नहीं जाता और सच्चा "मिच्छामि दुक्कडं" नहीं होता, परिणाममें जीव अज्ञानसे अंध बना रहता है। स्वयं आधुनिक शिक्षा ली हो, और सामाजिक प्रतिष्ठा भी अच्छी हो, तो अपनेको मैं 'अज्ञानी' हूँ ऐसा नहीं मानता, किन्तु बुद्धिमान मानता है इसलिये उसे अज्ञान दूर करना तो बनेगा ही कैसे? परन्तु जीवका यथार्थस्वरूप समझे बिना (लौकिक शिक्षा चाहे जितनी ली हो तथापि) जीव अंशमात्र सुखी नहीं होता और प्रति-समय अनंत दुःख भोगता है। बाह्य साधनोंसे स्वयं अपनेको सुखी माने परन्तु उससे कहीं सच्चा सुख नहीं आ जाता, क्योंकि अपने स्वरूपकी अप्रतीति (अज्ञान) तो बनी ही है, वही दुष्कृत है।

५:—'कर्यो अतिशयक्रोध' इस पदमें गम्भीर मर्म है। अपने स्वरूपकी अरुचि वह जीवका अतिशयक्रोध है। जबतक जीव उसे सम्यग्ज्ञान द्वारा दूर नहीं करता तबतक स्वयं सुखी नहीं होता और अपनेको सच्चा मिच्छामि दुक्कडं नहीं होता।

६:—मैं परका कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकता है, पुण्यसे धर्म होता है, पुण्य धर्ममें सहायक होता है—ऐसी मान्यता संसारका *बीज है उस 'दुष्कृत्य'के प्रति जबतक हेयबुद्धि न आये तबतक परका कर्तृत्व-और ममत्व अभिप्रायमेंसे दूर ही नहीं होता; इसलिये दुष्कृत्यको मिथ्या करनेके लिये सर्वप्रथम आत्माका सच्चा स्वरूप यथार्थ जानना ही चाहिये।

---

* फुट नोट—देखो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा—१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब जीव अपना यथार्थ स्वरूप समझले तभी उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनका प्रगट करना वह मिथ्यात्वके प्रतिक्रमणकी सच्ची क्रिया है। (आत्मा और जीव इन शब्दोंका अर्थ एक ही होता है—ऐसा समझना।)

८:—जब सम्यग्दर्शन प्रगट करे तभी भूतकालमें किये हुए भावकर्मके निमित्तसे आये हुए द्रव्यकर्मोंको मिथ्या करनेवाला सच्चा प्रतिक्रमण होता है। जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे वह मिथ्यादर्शनका प्रतिक्रमण है। सम्यग्दर्शन प्रगट करके अपने निर्मल भेदज्ञानके अभ्यास द्वारा स्वरूपमें क्रमशः एकाग्र होता है; चैतन्यस्वरूप आत्माके अनुभवमें स्थिर हो वह मिथ्याचारित्रका प्रतिक्रमण है, यह यथार्थ प्रतिक्रमण सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' है। गुणस्थानके अनुसार वह धर्मका सच्चा अंग है, ऐसा समझना चाहिये।

९:—प्रश्नः—सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्वमें किये हुए दुष्कृतोंका मिथ्यापना किसप्रकार होता है ?

उत्तरः—'मिथ्या' कहनेका प्रयोजन यह है कि—जैसे किसीने पहले धन कमाकर घरमें रखा था, पश्चात् उसकी ओरका ममत्व छोड़ा तब उसे भोगनेका अभिप्राय नहीं रहा, उससमय भूतकालमें जो धन कमाया था वह न कमानेके समान ही है। उसी प्रकार जीवने पहले कर्म बाँधा था, पश्चात् जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फलमें लीन नहीं हुआ तब भूतकालमें जो कर्म बांधा था वह न बांधनेके समान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या ही है। इस निर्मोह भावसे ही पूर्वका 'दुष्कृत' मिथ्या हो सकता है। उस भावको सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा जाता है।

१०:—प्रश्नः—सम्यग्दर्शन प्रथम किसलिये प्राप्त करना चाहिये? सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हमें कठिन लगता है। हम व्रत पालें, जप करें, तप करें, घरबार छोड़कर चारित्र ग्रहण करें तो धर्म नहीं होगा?

उत्तरः—रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शन ही मुख्य है। सम्यग्दर्शन होनेसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र हो सकता है, सम्यक्दर्शनके बिना चारित्र सम्यक् नहीं है। सम्यग्दर्शनके बिना सारा ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और समस्त चारित्र मिथ्याचारित्र है। सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, जप, तप आदि भी सब व्यर्थ है। इसलिये मनुष्य जन्म पाकर सबसे पहले सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये। (देखो प्रबोधसार श्रावकाचार पृ० ९)

११:—प्रश्नः—तत्त्व निर्णयरूप धर्मके लिये कौन योग्य है?

उत्तरः—तत्त्व निर्णयरूप धर्म तो बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री और कुक्षेत्री इत्यादि सर्व अवस्थाओंमें प्राप्त होने योग्य है। जो पुरुष अपने हितका वांछक है उसे तो सर्व प्रथम यह तत्त्व निर्णयरूप कार्य करना ही योग्य है।

इससे जिसे सच्चा धर्मी होना हो उसे तो ज्ञानीके तथा शास्त्रके आश्रयसे तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। परन्तु जो तत्त्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्णय तो नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम शील, संतोष आदि सभी कार्य करता है उसके यह सभी कार्य असत्य हैं। इसलिये प्रथम आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परंपरागुरुओंका उपदेश और स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय ही करना योग्य है।

प्रकरण : ४०

सच्चा प्रतिक्रमण

जीव अनादिसे अपने स्वरूपको भूला हुआ है, इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानद्वारा उस भूलसे विमुख होना अर्थात्—अपना यथार्थ स्वरूप समझना यह प्रतिक्रमण है।

करमचन्द:—भाई! संवत्सरी निकट आ रही है, परन्तु प्रतिक्रमणके लिये आनेका मेरा विचार नहीं होता, तो आप मुझे क्षमा करोगे न?

ज्ञानचन्द:—क्यों? आपको किसलिये यह विचार आया, वह बतलाओ तो फिर क्या करना—वह हम निश्चित् करेंगे।

करमचन्द:—देखो, मैं 'प्रतिक्रमण' शब्दका अर्थ भी नहीं जानता। तब फिर उसका भाव क्या है—यह तो कहाँसे जानूंगा? इसलिए विचार नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्द:—आप इतने वर्षोंसे प्रतिक्रमण करते हो और उसका अर्थ नहीं समझते तो यह नासमझी कैसे चलाते आए ? आप जैसे आदमीका काम नासमझीमें रहना नहीं है।

करमचन्द:—आपकी बात सत्य है। ना समझी रखना ही नहीं चाहिए। कितने ही लोग कहते हैं कि—'हम भले न समझें तो उसमें क्या हानि है ? जितने समय तक धर्मस्थानमें रहे उतने समय तक छह काय जीवोंकी हिंसा तो रुकी, और हमने चौबीस घंटे तक आहार-पानी न लेनेकी प्रतिज्ञा की इससे तप हुआ, और उससे निर्जरारूप धर्म हुआ; इसलिए अपनेको समझनेकी आवश्यक्ता नहीं है। मेरे जैसे वर्तमानकालके युवकको यह बात कैसे गले उतर सकती है ? इसलिए जो यथार्थ हो वह समझाइये।

ज्ञानचन्द:—आपने स्पष्टीकरण चाहा वह बहुत अच्छा किया। 'नासमझीसे' कभी आत्माको लाभ होता ही नहीं; परन्तु हानि होती है इसलिये स्पष्टतासे यह विषय समझ सको उसके लिए थोड़ा कहूँगा।

करमचन्द:—पहले आप 'प्रतिक्रमण' का अर्थ बतलाइए।

ज्ञानचन्द:—प्रतिक्रमण=प्रति+क्रमण। उसका अर्थ होता है पीछे लौटना। जीव अनादिसे अपने स्वरूपको भूला है, इसलिए उस भूलसे वापिस फिरना अर्थात् अपना यथार्थ स्वरूप समझना वह प्रतिक्रमण है।

करमचन्द:—तब तो ऐसा हुआ कि—(१) जीव क्या है, उसका स्वरूप क्या है, वह क्या कर सकता है, क्या मानता था,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख और सुखका उपाय क्या है और उससे विरुद्ध मान्यता हमारेमें क्या है इन बातोंको प्रथम जानना चाहिए। (२) जीव अनादिसे क्या भूल कर रहा है वह जानना चाहिए, क्योंकि भूल रहित अपने नित्य ज्ञानस्वरूपको तथा भूलको जाने बिना भूलसे विमुख कैसे हुआ जा सकेगा? (३) जीवका और अपनेमें होनेवाली भूलका स्वरूप जानकर उससे इसप्रकार विमुख होना चाहिए। इसप्रकार आत्मामें होनेवाली इस क्रियाको प्रतिक्रमण कहते हैं।

ज्ञानचन्दः—आपने प्रतिक्रमणका जो स्वरूप कहा वह बराबर है। उसीको ज्ञानी सच्चा प्रतिक्रमण कहते हैं।

करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि आज तक बिना समझे प्रतिक्रमण किया वह तो मात्र कालक्षेप हुआ; आत्माको कुछ भी लाभ नहीं हुआ—यह ठीक है।

ज्ञानचन्दः—हाँ, है तो ऐसा ही। प्रतिक्रमण तो आत्माका (जीवका) शुद्ध भाव है, इससे जो आत्माको नहीं समझता उसके सच्ची प्रतिक्रमणकी क्रिया नहीं होती।

करमचन्दः—कितने ही लोग कहते हैं कि—'छह कायके जीवोंकी रक्षा तो हुई—इतना लाभ तो हुआ'—उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—आप छहकाय जीवमें आये या नहीं? यदि आये तो आपकी रक्षा हुई न? और यदि आप नहीं आये तो फिर छहकाय जीवोंकी रक्षा कहाँ हुई?

करमचन्दः—मैं तो यह भी यथार्थतया नहीं समझता कि जीव क्या है; इससे 'छहकाय जीव' क्या कहलाता है वह भी मैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं कह सकता। परन्तु बचपनमें मैं कितने ही बोल सीखा था, उसमें ऐसा आता था कि—पाँच प्रकारके एकेन्द्रिय जीव और एक त्रस—ऐसे छह प्रकारके संसारी जीव हैं; उन्हें छहकायके जीव कहते हैं। मैं त्रस जीव हूँ, इसलिये उन छहकाय जीवोंमें मैं आगया।

ज्ञानचन्द:—तब कहो कि आपके माने हुए प्रतिक्रमणको करनेसे आपके जीवकी रक्षा हुई या नहीं, अर्थात् आपमें विकार दूर हुआ या नहीं ?

करमचन्द:—मैं जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं समझता तब फिर मेरे जीवकी रक्षा हुई—ऐसा कैसे कह सकता हूँ ?

ज्ञानचन्द:—ज्ञानी कहते हैं कि जीव जबतक अपना स्वरूप न समझे तबतक प्रतिसमय अपना भावमरण करता रहता है और इससे वह दुःख ही भोगता है। आप अपना स्वरूप नहीं समझे, इससे प्रतिसमय अपना भावमरण करते हो। बिना समझे होनेवाली प्रतिक्रमणकी क्रियाके समय भी भावमरण तो चालू ही है; तब फिर आपके जीवकी रक्षा कहाँ हुई ? बिल्कुल नहीं हुई, परन्तु आपकी अरक्षा—अर्थात् भावमरण हुआ। इसप्रकार छहकायके जीवोंकी रक्षा नहीं हुई।

करमचन्द:—परन्तु मैंने दूसरे जीवोंको नहीं मारा; इतना लाभ तो हुआ न ?

ज्ञानचन्द:—यह विषय विचारणीय है। आप जीवको तो पहिचानते नहीं हैं, तब फिर आपने उसे मारा या न मारा यह प्रश्न उठता ही कैसे है ? और जो जीव जीते हैं वे आपके या अपने कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीते हैं वह निर्णय करनेकी आवश्यक्ता है, इसलिये आप क्या मानते हैं वह कहिए !

करमचन्दः—मैंने इस सम्बन्धमें विचार करके सच्चा स्वरूप निश्चित् नहीं किया है, इसलिये आप ही समझा दीजिये।

ज्ञानचन्दः—यदि युवक गहराई तक पहुँचकर सच्चा-स्वरूप समझनेके लिये परिश्रम करें तो भारी प्रशंसनीय है, इसलिये आप धैर्य पूर्वक सुनकर, उस विषयमें विचार करके सत्यासत्यका निर्णय करना। कोई कहता है इसलिये मान लेना यह तो अन्ध-श्रद्धा है और अन्धश्रद्धा अज्ञान है, अविवेक है, इसलिये विचारवान जीवोंको वह छोड़ना ही चाहिए।

करमचन्दः—आपकी बात यथार्थ है। अन्धश्रद्धा तो विमुखता है; विमुखतासे लाभ नहीं होता। यथार्थ समझनेकी मुझे जिज्ञासा हुई है इसलिये आप कहोगे वह सुनकर मैं उसपर विचार करूँगा और फिर सत्यासत्यका निर्णय करूँगा।

ज्ञानचन्दः—बहुत अच्छा। यदि आप ऐसा करोगे तो असत्यसे विमुख होकर सत्यको यथार्थतया पहिचान लोगे और वही सच्चा प्रतिक्रमण है, यदि वैसा होगा तो यह संवत्सरी प्रतिक्रमण आपको सच्चे रूपमें होगा।

करमचन्दः—मेरा ऐसा विचार होता है कि—मुझे सच्चा प्रतिक्रमण (वीतरागकी आज्ञानुसार) करना ही चाहिए। यदि वैसा न करूँगा तो मेरा अमूल्य मनुष्यभव निरर्थक जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्दः—ठीक, विचार कीजिए। कोई जीव किसी दूसरे जीवको मारनेमें समर्थ है ? अनेक बार ऐसा होता है कि—जब एक आदमी दूसरेको मार डालनेके लिए बन्दूक मारता है तब वह मनुष्य तो नहीं मरता किन्तु अचानक ही कोई अनजान मनुष्य बीचमें आ जाता है और वह गोली लगनेसे मर जाता है; उसका सिद्धान्त ऐसा होता है कि:—प्रत्येक जीव और उसका शरीर एक साथ रहनेके योग्य हो वहाँतक निश्चित् रहता ही है; लोग उसे जीवन कहते हैं। जीव और शरीर यदि साथ रहने योग्य न हों तो पृथक् हो जाते हैं; उसे लोग मरण कहते हैं।

यहाँ इतना अवश्य लक्ष्यमें रखना है कि—एक मनुष्यने दूसरेको मारने—खून करनेका विचार किया, और उस विचारकी पूर्णताके लिए दूसरे मनुष्यको गोली मारी, परन्तु दूसरा मनुष्य बच गया; यद्यपि वहाँ कोई भी शारीरिक दुःख नहीं हुआ तथापि जिस जीवने खून करनेका भाव किया उसने स्वयं अपनी हिंसा की ही है, क्योंकि उसने तीव्र अशुभभावोंका सेवन करके अपनी शुद्धताकी हत्या की है। अपने विकारी भावोंसे अपनेको लाभ होता है—ऐसी विपरीत पकड़से अज्ञानी जीव अपने गुणोंकी हत्या कर रहे हैं, और उसका नाम भावमरण है; इसप्रकार दूसरा जीव चाहे मरे या बचे, परन्तु जिस जीवने मारनेका भाव किया उसने अपनी हिंसा तो की ही है।

करमचन्दः—आपकी बात समझमें आ गई। आपने जो उदाहरण दिया वह तो अशुभभावका है; परन्तु बिना समझे प्रति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रमण करनेवालेने तो किसी जीवको मारनेका भाव नहीं किया है; उसका क्या ?

ज्ञानचन्दः—कोई जीव स्वतः दूसरेको लाभ-हानि नहीं कर सकता, परन्तु अपने भावोंमें न्यूनाधिकता कर सकता है—ऐसा बतानेके लिये उपरोक्त दृष्टान्त दिया था। जिसप्रकार एक जीव दूसरे जीवका बुरा नहीं कर सकता उसीप्रकार भला भी नहीं कर सकता। वह दूसरे जीवोंको दुःख न देनेका भाव करे तो वह शुभभाव है और प्रतिकूलता देनेका भाव करे तो अशुभ-भाव है। शुभाशुभभाव मेरा है वे करने योग्य हैं—ऐसी जिस जीवकी दृढ पकड है वह संसारका मूल है, और जबतक उसे नष्ट न किया जाये तबतक संसार बना रहता है। अपना यथार्थ स्वरूप समझे बिना वह दूर नहीं होता। उस मूलको शास्त्रीय भाषामें मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व ही संसार है—वही परिग्रह है। और उससे विमुख होना वह मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण है।

करमचन्दः—आपका कहना मैं समझ गया; आप ऐसा कहना चाहते हो कि:—(१) एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ नहीं कर सकती और उससे लाभ-हानि भी नहीं कर सकती। जीव और अजीव भी वस्तुएँ हैं इससे जीव पुद्‌गलका या दूसरे जीवका कुछ नहीं कर सकता; पुद्‌गल जीवको कुछ लाभ या हानि नहीं पहुँचा सकता।

(२) इसप्रकार मान्यता होनेसे जगतके अनन्त पदार्थों परका अपना स्वामित्व, जिसे जीव विमुखतासे मानता था वह दूर हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) प्रत्येक जीव अपनेको ही अपने भावसे लाभ-हानि कर सकता है।

(४) यदि अपना स्वरूप समझे तो अपनेको लाभ हो। और यथार्थ प्रतीति करनेको आप 'मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण' कहते हो। यह सब बातें ठीक हैं?

ज्ञानचन्दः—हाँ, आपने कहा वह सब बराबर है, परन्तु अपना स्वरूप समझना चाहिए—ऐसा कहनेसे स्वरूप समझमें नहीं आता; इसलिए उसका उपाय जानना चाहिए।

करमचन्दः—यह बात सच है। उसके लिये क्या उपाय है, वह समझाइये!

ज्ञानचन्दः—प्रथम तो आत्मज्ञानी पुरुषके पाससे आत्माका स्वरूप बराबर समझना चाहिये। आत्मा त्रिकाली अखण्ड शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र ध्रुवरूप है; मात्र अपनी वर्तमान वर्तती अवस्थामें वह प्रतिक्षण खंड खंड ज्ञान और नवीन विकार करता है। उस ओरका लक्ष्य गौण करके विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थोंका निर्णयसहित त्रिकाली-ध्रुव-चैतन्यकी ओर उपयोग लगाकर उसीमें एकत्व-अनुभव करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनका प्रगट करना वह मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण है; इसलिये इस संबंधमें विचार करके-सत्यासत्यका निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये।

करमचन्दः—प्रतिक्रमणका पाठ कितने ही लोग बोलते हैं, उसमें मैंने निम्नानुसार बोलते हुए सुना है:—'मिथ्यात्वका प्रति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रमण-अव्रतका प्रतिक्रमण-कषायका प्रतिक्रमण-प्रमादका प्रतिक्रमण'। यदि पहले मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण न करें और दूसरे प्रतिक्रमण करें तो कैसा रहे ?

ज्ञानचन्दः—मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण हुए बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी जीवको सच्चे व्रत नहीं होते। बालव्रत-बालतप होते हैं परन्तु वे कहीं धर्म नहीं हैं वे तो अधर्म हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण हुए बिना दूसरा कोई प्रतिक्रमण हो ही नहीं सकता। इसकारण आत्माका स्वरूप समझनेकी अत्यंत आवश्यक्ता है।

करमचन्दः—आपने कहा वह बराबर है। हमारे जैसे युवकोंको अपना कार्यक्षेत्र बदलनेकी आवश्यक्ता है। यथार्थ प्रतीति कर लेनेकी आवश्यक्ता है। प्रत्येक जगह सम्यग्ज्ञानकी प्याऊ लगानेका कार्य अवश्य करना चाहिये।

ज्ञानचन्दः—युवक और वृद्ध—यह तो शरीरकी अवस्थाएँ हैं। जीवसे शरीर पर है; इसलिये उस परवस्तुका लक्ष्य छोड़कर प्रत्येक जीवको अपना स्वरूप समझनेका प्रयास-सत्यपुरुषार्थ करना चाहिये। और अपने स्वरूपमें स्थिर न रह सके उससमय अपनेमें अशुभ भाव न हों उसके लिये ज्ञानकी रुचि बढ़ानेका प्रयास करना चाहिये। वैसे भाव जगतके जीव प्राप्त कर सकें उसके लिए सम्यग्ज्ञान की प्याऊ स्थान-स्थानपर खोली जाएँ, उनकी पुष्टि हो और वृद्धिको प्राप्त हों—वैसी भावना करना चाहिए।

करमचन्दः—युवक और वृद्ध यह शरीराश्रित अवस्थाएँ हैं—यह बात ठीक है। समस्त जीव अनादिके हैं इससे कोई छोटा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बड़ा नहीं है। इसलिए सर्व जीवोंको अपना स्वरूप समझकर अपने अज्ञानको टालनेका प्रयास करना चाहिये, मिथ्यादर्शन दूर करना चाहिये। इसप्रकार जो करे उसीके सच्चा प्रतिक्रमण हो सकता है, यह बात यथार्थ है। आहार-त्यागकी प्रतिज्ञा अमुक समयके लिये लेना वह पुण्य है किन्तु वह सम्यक्‌तप नहीं है क्योंकि जिसे अपने स्वरूपकी खबर नहीं है उसके तो बालतप होता है,—ऐसा भगवानने डंकेकी चोट कहा है, इसलिये मुझे मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण प्रथम ही करना चाहिए। यह मैं समझ गया। अपने मित्रोंको भी सच्चा प्रतिक्रमण समझानेका प्रयत्न करूँगा।

प्रकरण : ४१

व्यवहार

१:—प्रश्नः—शास्त्रोंमें 'व्यवहार' शब्दका अनेक स्थानोंपर उपयोग किया जाता है—उसका अर्थ क्या है ?

उत्तरः—'व्यवहार' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं; उनमें एक अर्थ ऐसा होता है कि—'अज्ञानीकी परके कर्तृत्वकी मिथ्यामान्यता (प्रतिभास), वह व्यवहार है।'

प्रश्नः—आपने व्यवहारका जो अर्थ किया वह अच्छी तरह समझमें आजाये, उसके लिये विशेष स्पष्ट कीजिये !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तरः—वास्तवमें जीवकी प्रवृत्ति (क्रिया) और जड़-पदार्थोंकी प्रवृत्ति (क्रिया) भिन्न–बिल्कुल पृथक् है; परन्तु जीव जबतक सच्चा ज्ञान प्रगट न करे तबतक वह स्थूलदृष्टिसे देखता है और इससे उनकी प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न होनेपर भी एकसमान दिखाई देती है। अज्ञान दशामें जीवको जीव और जड़का भेदज्ञान (सच्चा ज्ञान) न होनेसे ऊपरी दृष्टिसे जैसा दिखाई देता है वैसा (गहरा विचार किये बिना) वह मान लेता है, और इससे वह ऐसा मानता है कि जीव जड़कर्मको करता है और भोगता है; श्रीगुरु भेदज्ञान कराके जीवका सच्चा स्वरूप बतलाकर अज्ञानीके इस प्रतिभासको 'व्यवहार' कहते हैं।

३:—प्रश्नः—अज्ञानदशामें जीव कर्तापनेके सबंधमें क्या और कबसे मानता है ?

उत्तरः—इस जगतमें अज्ञानदशामें जीवोंका "परद्रव्यको अथवा उसकी अवस्थाको मैं करता हूँ"—ऐसे परद्रव्यके कर्तृत्वका महाअहंकाररूप अज्ञानांधकार (जो कि अत्यन्त अनंतपुरुषार्थ द्वारा दूर किया जा सकता है) अनादि–संसारसे चला आ रहा है।

४:—प्रश्नः—एकवस्तु (जीव) परवस्तु (जड़)का कुछ भी क्यों नहीं कर सकती ? यह समझाइये !

उत्तरः—प्रत्येक वस्तु अपनेसे है, अपने वस्तुरूप (द्रव्यसे); अपनेसे अपने प्रदेशरूप (क्षेत्रसे=आकारसे), अपनेसे अपनी अवस्थारूप (कालसे), और स्वयं अपनेसे अपने गुणरूप (भावसे) है; और वह वस्तु परवस्तुके द्रव्यसे–क्षेत्रसे–कालसे और भावसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है। अब जो एक वस्तु दूसरी वस्तुमें द्रव्यसे–क्षेत्रसे–कालसे और भावसे नहीं है वह दूसरेका क्या कर सकती है? कुछ नहीं कर सकती—यह स्पष्ट है।

जो–जो वस्तुएँ हैं वे–वे सर्वथा परसे भिन्न ही हैं, प्रदेश-भेदवाली ही हैं। दोनोंके क्षेत्र भिन्न ही रहते हैं। इसप्रकार स्वक्षेत्र-से प्रत्येक द्रव्य अभिन्न और परक्षेत्रसे भिन्न है, स्वकालसे अभिन्न और पर कालसे प्रत्येक द्रव्य त्रिकाली भिन्न है, स्वभावसे प्रत्येक द्रव्य अभिन्न और परभावसे त्रिकाली भिन्न है इससे कोई द्रव्य, कोई गुण या कोई पर्याय परका कुछ नहीं कर सकते।

५:—प्रश्नः—तब फिर जीव परद्रव्यका कुछ कर सकता है—ऐसा मानना महा अहंकार है?

उत्तरः—हाँ, वैसा ही है। स्वतः परका कुछ नहीं कर सकता, तथापि करता हूँ—ऐसा मानता है इससे उसे अहंकार कहा जाता है, और वह मिथ्या मान्यता अनन्त संसारका (दुःखका) कारण है; और उसे दूर करनेके लिये अनंत पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है।

६:—प्रश्नः—इस महा अहंकारको अज्ञान–अंधकार क्यों कहा जाता है?

उत्तरः—क्योंकि स्वयं अपना सच्चा ज्ञान नहीं किया और स्वतंत्र अस्तित्वको, स्व को भूल जानेरूप महान भूल की इससे उसे महा अहंकाररूप अज्ञान–अंधकार कहा जाता है।

प्रश्नः—तब तो ऐसा हुआ कि महा अहंकाररूप अज्ञा-नांधकारको अज्ञानीका प्रतिभास, और उस प्रतिभासको 'व्यवहार' कहा जाता है—ऐसा सिद्ध हुआ। यह ठीक है न?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तरः—हाँ, ऐसा ही है।

७:—करमचन्दः—इस सम्बन्धमें जो शास्त्राधार हो वह बतलाइये !

ज्ञानचन्दः—हाँ, शास्त्राधार है। श्री समयसारकी गाथा ८४ से ८६ की टीका-भावार्थ, और कलश ५१ से ५६ तक पढ़कर विचार करनेसे वस्तुका स्वरूप यथार्थतया समझा जा सकेगा।

प्रश्नः—इस महा अहंकारको दूर करनेका उपाय क्या है ?

उत्तरः—यह महा अहंकाररूप जो अज्ञानांधकार है वह अज्ञानीका प्रतिभास है, इससे उसे व्यवहार कहा जाता है। इसलिये निश्चयके आश्रय द्वारा व्यवहारको जैसा है वैसा-(यथावत्) जानकर पराश्रयरूप व्यवहारकी श्रद्धा छोड़नेसे और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा निश्चित् करके अपने त्रिकाली ध्रुव स्वभावका आश्रय लेनेसे वह महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार दूर हो सकता है।

प्रश्नः—उपरोक्त उपायको शास्त्रकी परिभाषामें क्या कहते हैं ?

उत्तरः—परमार्थ (सत्यार्थ-भूतार्थ-निश्चयनय)के ग्रहणसे वह अज्ञानांधकार दूर हो जाता है—ऐसा शास्त्र परिभाषामें कहा जाता है।

८:—करमचन्दः—इस सम्बन्धमें जो आधार हो वह बताइये !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानचन्द:—श्री समयसार गाथा ११ की टीका-भावार्थ; तथा कलश ५५ का अर्थ-भावार्थ पढ़नेसे आपको ज्ञात हो जायगा।

प्रश्न:—वह महा अहंकार दूर करनेके लिये अनन्तपुरुषार्थ चाहिए—ऐसा क्यों कहते हैं?

उत्तर:—"जीव परका कुछ नहीं कर सकता"—ऐसा प्रथम सुनते ही जीव चकचौंधिया जाता है, और "यह मेरे लिए नहीं है, अभीके लिये नहीं है, यह तो उच्च दशावाले और केवलियोंके लिए है" इत्यादि मिथ्या कल्पनाएँ करके उस ओर रुचि नहीं करता किन्तु उससे घृणा करता है; इससे उसे दूर करनेके लिए अनन्त पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है—ऐसा कहा है।

जीवने अनादिकालसे ऐसा भ्रम पकड़ रखा है कि "परद्रव्योंको और उनके भावोंको (अवस्थाओंको) मैं कर सकता हूँ," और अपनेआप अज्ञानी हो रहा है। श्रीगुरु परभावोंका विवेक (भेदज्ञान) करके उससे बारम्वार कहते हैं कि—"तू आत्मस्वरूप है, तू परका कुछ नहीं कर सकता; इसलिये शीघ्र जागृत हो! सावधान हो जा!

यदि जीव इस कथनको रुचिपूर्वक बारम्बार सुने, और भलीभाँति परीक्षा करके सच्चा ज्ञान करे तो अज्ञान दूर हो, इससे यह समझनेके लिए अनन्त-पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है—यह सिद्ध होता है। जो ऐसा पुरुषार्थ करे वह जान सकता है कि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं हो सकता। तथापि अज्ञानी वैसा मानता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है यह बतानेके लिये शास्त्रमें जीवको असद्भूत (मिथ्या) व्यवहार-नयसे कर्मका कर्ता कहा है, परन्तु सद्भूत (सच्चे) व्यवहारनयसे वह जीव अपने शुद्ध भावोंका ही कर्ता है।

प्रकरण : ४२

प्रश्न और उत्तर

प्र०:—संसारमें किसका राज्य चल रहा है ?

उ०:—अपने स्वरूपके भ्रमका।

प्र०:—संसारमें बहुमत किसका ?

उ०:—स्वरूपके भ्रमवाले जीवोंका।

प्र०:—उस भ्रममें प्रमुख कौन ?

उ०:—द्रव्यलिंगी मुनि; उसे संसारतत्त्व कहा जाता है।

प्र०:—द्रव्यलिंगी पर-जीवकी हिंसा करता है ?

उ०:—बिल्कुल नहीं; वह छहकाय जीवोंकी दया पालता है, अतिचार रहित अहिंसा व्रतका पालन करता है।

प्र०:—द्रव्यलिंगी मुनि असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन करता है या परिग्रह रखता है ?

उ०:—बिल्कुल नहीं; वह सभी व्रत अतिचार रहित पालन करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२:—प्र०:—इतना करने पर भी धर्म क्यों नहीं होता ?

उ०:—स्वरूपका भ्रम होनेसे धर्म नहीं होता—यह प्रगट ही है।

प्र०:—तब क्या जीवदया पाले, असत्य बोले, चोरी करे, अब्रह्मचर्य सेवन करे, परिग्रह रखे तो धर्म हो ?

उ०:—आपका प्रश्न अधीरता और विपरीतता बतलाता है; आपने कहा वह सब तो पाप है, उससे ध ˋ होता ही नहीं—यह तो आर्यावर्तका बच्चा भी समझता है।

३:—प्र०:—तब फिर धर्म कब होता है ?

उ०:—अपने स्वरूपकी यथार्थ पहिचान करना और भ्रम दूर करना वह धर्मका प्रारम्भ है, उस स्वरूपमें स्थिर रहना वह साधकदशा है और सम्पूर्ण स्थिरता लाना वह धर्मकी पूर्णता है।

प्र०:—द्रव्यलिंगी मुनि भव्य होता है या अभव्य ?

उ०:—भव्य भी होता है और अभव्य भी।

प्र०:—यह जीव पूर्वमें कभी द्रव्यलिंगी मुनि हुआ होगा ?

उ०:—हाँ, अनन्तबार।

४:—प्र०:—द्रव्यलिंगी मुनिको संसारतत्त्व कहा जाता है उसका कुछ आधार है ?

उ०:—हाँ, श्री प्रवचनसार अध्याय ३ गाथा ७१ में निम्नप्रकार कहा है :—अब इन पाँचमेंसे प्रथम संसारतत्त्वको कहते हैं :—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये अयथागृहितार्था एते, तत्वमिति निश्चिताः समये ।
अत्यंत फल समुद्धं भ्रमन्ति, ते अतः परं कालम् ।।७१।।

अर्थः—जैनमतमें कही हुई द्रव्यलिंग अवस्था तो धारण की है परन्तु जो पदार्थोंका स्वरूप जान लिया है वैसा ही स्वरूप है—ऐसी मिथ्यामान्यता जो जीव कर बैठा है वह श्रमणाभास मुनि है और वह अनन्त भ्रमणरूपी फलसे समृद्ध होकर अनन्तकाल तक भटकता है ।

भावार्थः—जो अज्ञानी मुनि मिथ्याबुद्धिसे पदार्थोंकी श्रद्धा नहीं करता—अन्यकी अन्य कल्पना करता है और सदैव मोहमल्ल (मिथ्यादर्शन)के कारण चित्तकी मलिनतासे अविवेकी है, उसने यद्यपि द्रव्यलिंग धारण किया है तथापि परमार्थ (सच्चे) मुनित्वको वह प्राप्त नहीं हुआ है । वह मुनि जैसा प्रतीत होता है तथापि अनन्तकाल तक अनन्त परावर्तन करके भयानक कर्मफल भोगता हुआ परिभ्रमण करता है, इससे उस श्रमणाभास मुनिको संसार-तत्त्व जानना; अन्य कोई संसारतत्त्व नहीं है परन्तु जो जीव मिथ्या बुद्धिवाला है वही संसार है ।

प्र०:—बाह्यलिंग परसे मुनिपना या ज्ञानीपना निश्चित् हो सकता है या नहीं ?

उ०:—नहीं हो सकता; वह ऊपर आगया है ।

५:—प्र०:—जीवादि तत्त्वोंको समझनेके लिए इस कालमें कौन योग्य है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उ०: —प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरणका क्षयोपशम (ज्ञानका विकास) तो सर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंको होता है, इसलिये वे योग्य हैं।

६:—प्र०:—तब फिर सर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंको जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान क्यों नहीं होता ?

उ०:—जो-जो संज्ञीजीव प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करनेके लिये अपने ज्ञान में पुरुषार्थ करता है उसे सच्ची श्रद्धा होती है, और जो-जो संज्ञीजीव प्रयोजनभूत जीवादि-तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करनेके लिये अपने ज्ञानमें पुरुषार्थ नहीं करते, परन्तु परज्ञेयोंको जाननेमें उस ज्ञानको रोकनेसे असत्यार्थ पुरुषार्थ करते हैं उन्हें प्रयोजनभूत जीवादितत्त्वोंका श्रद्धान नहीं होता।

क्षयोपशम ज्ञान जहाँ लगे वहाँ एक ज्ञेयमें लगता है। यदि अपने स्वरूपको जानने की ओर उस ज्ञानको लगाये तो उसका ज्ञान हो, और यदि परज्ञेयको जाननेकी ओर स्वतः अपने ज्ञानको लगाये तो ज्ञान परज्ञेयमें लगे। परद्रव्य अनंतानन्त हैं, एक एक ज्ञेयमें ज्ञानको रोके तो कभी भी उसे बराबर नहीं जानेगा। स्व को यथार्थतया जाने बिना परका यथार्थ ज्ञान नहीं होता; इससे जो संज्ञीजीव अपना पुरुषार्थ स्वोन्मुख नहीं करते उन्हें यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान नहीं होते।

७ प्र०:—धर्मके उपदेशमें काहेकी मुख्यता होना चाहिये ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उ०:—मिथ्यात्व जो महापाप है उसकी प्रवृत्ति छुड़ानेकी मुख्यता होना चाहिए। कितने ही विषयोंमें हिंसा बताई है उसे छुड़ानेकी मुख्यता करना यह क्रमभंग उपदेश है। जो दयाके कितने ही अंग योग्य पालते हैं, हरितकाय आदिका त्याग करते हैं, जलका उपयोग कम करते हैं, उनका निषेध नहीं समझना चाहिए। यहाँ तो मिथ्यात्वका महापाप छुड़ानेकी प्रवृत्तिकी मुख्यता होना चाहिए—यह बताना है। यदि उसकी मुख्यता न की जाये तो वे जीवदयाके नाम पर कितने ही अंग पालन करनेमें सारा जीवन व्यतीत करेंगे, और समीचीन धर्मके प्रारम्भरूप सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसप्रकार उनका अमूल्य मनुष्यजन्म असफल होगा और संसार-चक्रमें फँसे रहेंगे।

प्रकरण : ४३

धर्मकी क्रिया प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शनकी भावना करो!

—१—

सम्यग्दर्शन संपूर्ण दुःखका नाश करता है इसलिये हे जीव! तू इसमें प्रमादी न बन।

शंका:—सम्यग्दर्शनसे सर्व दुःखोंका नाश किसप्रकार होता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान:—सम्यग्दर्शन है वह ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है। इससे वह सम्पूर्ण दु:खोंका नाश करता है-ऐसा समझना।

शंका:—परिणाम परिणामी द्रव्यके आधारसे रहता है, इससे अन्योन्य आधार नहीं होता; तथापि आप सम्यक्त्व-परिणाम ज्ञानादि-परिणामोंका आधार है—ऐसा कैसे कहते हो ?

समाधान:—जिसप्रकार परिणमनशील द्रव्यके बिना (आत्माके बिना) ज्ञानादिक नहीं रहते, उसीप्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपको सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्पना प्राप्त नहीं होता, इससे सम्यग्दर्शनको आधार माना है।

—२—

जिसप्रकार नगरमें प्रवेश करनेका उपाय दरवाजा है, उसीप्रकार आत्मामें ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका प्रवेश होनेके लिये सम्यग्दर्शन द्वार समान है; अर्थात् जब आत्मामें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञानादिकका प्रवेश होता है। सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्तप, सम्यग्चारित्रादिकी प्राप्ति होती ही नहीं। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे, जीवको अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, कर्मकी अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त नहीं होता। जिसप्रकार मुँहको आँखोंसे सुन्दरता प्राप्त होती है, वैसे ही ज्ञानादिकोंमें सम्यग्दर्शनसे सम्यक्पना प्राप्त होता है। जिसप्रकार वृक्षको जड़से दृढ़ता मिलती है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनसे ज्ञानादिकोंको स्थिरता-दृढ़ता प्राप्त होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—३—

जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है उसीको भ्रष्ट समझना चाहिये। दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। चारित्र-भ्रष्ट जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है, परन्तु दर्शनभ्रष्ट जीवको मुक्तिलाभ नहीं होता।

जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है उसे भ्रष्टतम कहा जाता है। चारित्रभ्रष्ट जीव दर्शनभ्रष्ट नहीं माना जाता अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीवसे दर्शनभ्रष्ट जीव अतिशयभ्रष्ट है। जो चारित्रसे भ्रष्ट होता है, परन्तु सम्यग्दर्शनसे च्युत नहीं होता उसे संसार–पतन नहीं है।

शंका:—असंयमसे उत्पन्न हुए पापके भारसे जीवको संसारमें भ्रमण करना ही पड़ता है, तथापि चारित्रभ्रष्ट जीवको संसार–पतन नहीं है—ऐसा आप कैसे कहते हो ?

समाधान:—चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतियोंमें भ्रमण नहीं करता। उसका संसार अल्प रहता है, इससे उसे संसार नहीं है—ऐसा कहा जाता है। जैसे, किसीके पास थोड़ा धन हो तो वह धनवान नहीं कहलाता, परन्तु दर्शनभ्रष्ट मनुष्य तो अनन्तकाल संसारमें परिभ्रमण करता है, इससे वह निकृष्ट है।

—४—

शंका—कांक्षादि अतिचारोंसे रहित, अविरत सम्यग्दृष्टिको भी तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है। अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया और लोभके उदयवश होनेवाले परिणामोंमें हिंसादिकसे विरक्ति उत्पन्न न होने पर भी, अकेला निरतिचार सम्यग्दर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारण करनेवाले मनुष्यको गृहस्थदशामें भी तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है।

शंका:—विनय संपन्नता आदि अन्य कारणोंसे भी तीर्थंकरत्वकी प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शनसे ही होती हो—ऐसी उसमें क्या विशिष्टता है?

उत्तर:—सम्यग्दर्शन हो तब विनय सम्पन्नतादिक तीर्थंकर कर्मबंधका कारण होते हैं; नहीं तो उनमें (विनयसम्पन्नतादि) कारणत्व नहीं है। मात्र सम्यग्दर्शनकी सहायतासे ही श्रेणिकराजा भविष्यकालमें अरिहंत होंगे।

शंका:—श्रेणिक राजाको भविष्यकालमें अरिहंत होना है, उन्हें अरिहंत दशा प्राप्त नहीं हो चुकी है, तथापि आप यह कैसे कहते हैं कि वे अरिहंत हो गये?

उत्तर:—भविष्यकालके अरिहंत इससमय निष्पन्न नहीं हुए हैं, तथापि वे निश्चित् होने ही वाले हैं, इससे यही कहना योग्य है कि वे हो गये हैं।

—५—

इस निर्मल सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें रागके कारण इन्द्र पद चक्रवर्ती पद, अहमिन्द्र पद तथा तीर्थंकर पद—ऐसी कल्याण परम्परासे उत्तरोत्तर पदवी मिलती हैं। यह सम्यक्त्वरत्न इतना बहुमूल्य है कि देव और असुरों सहित यह सम्पूर्ण लोक भी अर्पण किया जाये तो भी उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता; अर्थात् सम्पूर्ण त्रिलोक देने पर भी सम्यक्त्वरत्न नहीं मिलता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक ओर सम्यग्दर्शनका लाभ और दूसरी ओर तीनलोकका लाभ—दोनों लाभोंमें सम्यग्दर्शनका लाभ श्रेष्ठ है। तीनलोकका लाभ होने पर भी वह अल्पकालमें ही नष्ट हो जाता है; परन्तु सम्यग्दर्शनका लाभ जीवको अविनाशी सुखके देनेवाले मोक्षकी प्राप्ति कराता है।

इसलिये सम्यग्दर्शनका लाभ त्रिलोकके लाभसे श्रेष्ठ है—उसे प्राप्त करनेके प्रत्येक जीवको प्रयत्न करना चाहिये।

प्रकरण : ४४

अधर्मकी क्रियाको दूर करनेके लिये मिथ्यात्वका वमन करो!

—१—

संसारका मूल कारण मिथ्यात्व ही है, अर्थात् मिथ्या-श्रद्धा ही संसारका मूल है। इसलिये हे जीव! तू उसका त्याग कर। गुणोंसे युक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व मुग्ध मूर्च्छित कर देता है।

शंका:—मिथ्यात्वको आप सर्व दोषोंमें प्रथम कहते हो वह योग्य नहीं है। जैसे मिथ्यात्व अपने कारणसे उत्पन्न होता है, उसी-प्रकार असंयमादिकी उत्पत्ति भी स्वत: अपने कारणसे होती है; इसलिए मिथ्यात्वका दोष प्रथम और चारित्रका दोष पश्चात् उत्पन्न होता है—ऐसा कहना असत्य है, क्योंकि आत्मामें सदैव आठों कर्मोंका सद्भाव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तरः—सामान्यरूपसे सूत्रकारने

'मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योगा बंध हेतवः'

इस सूत्रमें मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है; अर्थात् बंधके कारणोंमें मिथ्यात्वका प्रथम उल्लेख है। संसार बंधपूर्वक है और संसारका मूलकारण मिथ्यादर्शन है।

—२—

यह मिथ्यात्व बुद्धिको विपरीत करता है। सुश्रुषा-सुननेकी इच्छा, शास्त्र श्रवण करना, श्रवण करके उसे हृदयमें धारण करना, कालान्तरमें भी धारण किये हुएको न भूलना—इत्यादि बुद्धिके गुण हैं। मिथ्यात्व उन्हें भी विपरीत करता है, अर्थात बुद्धि और सुश्रुषादिक उसके कारण भी मिथ्यात्वके सहवाससे विपरीत हो जाते हैं।

—३—

इसलिये हे जीव! तू इस मिथ्यात्वका त्याग कर और सम्यक्त्वकी आराधनामें अपनेको स्थिर कर।

शंका:—जो वस्तु जिस स्वरूपकी धारक नहीं है, उसे ज्ञान अन्यरूप क्यों जानेगा?

समाधान:—ज्ञान विपरीत भी होता है, क्योंकि ज्ञानको विपरीत करनेका कारण मिलता है। दृष्टान्तः—जब सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे पृथ्वी अत्यन्त गर्म होती है तब उसकी उष्णता सूर्यकी किरणोंमें मिश्र होकर पानी समान दिखाई देती है। तृषासे जिनकी आँखें संतप्त हो रही हैं—ऐसे हिरनोंको उस समय सूर्यकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किरणोंमें जलका आभास होने लगता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वदशामें इस जीवको असत्य पदार्थ भी सत्य भासित होने लगता है। मिथ्यात्वग्रस्त जीव अतत्त्वको तत्त्वरूप समझता है।

—४—

मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुई भ्रमणाकी अपेक्षा, धतूरेके सेवनसे उत्पन्न होनेवाला उन्मत्तपना श्रेष्ठ है; मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुआ उन्मत्त अनेक कुयोनियोंमें जन्म-मरणकी वृद्धि करता है। धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ पागलपन जन्म-मरणको नहीं बढ़ाता, और अल्प समय तक नशा रह सकता है। और इससे तो अनन्तकालतक विपरीत स्वरूप दिखानेवाले मिथ्यात्वजन्य मोह परिणाम जो अत्यन्त निकृष्ट हैं—ऐसा समझना चाहिए।

जन्म-मरणसे भयभीत होनेवाले हे जीवो! तुम इस दुष्ट मिथ्यात्वका त्याग करो।

—५—

अनादिकालसे जीवमें मिथ्यात्व चला आ रहा है; इससे इस जीवका सम्यक्त्वमें रमण नहीं है। जीवको अनादिकालसे इस मिथ्यात्वका ही स्वाद आ रहा है इससे यह जीव सम्यक्त्वमें नहीं रमता। इसलिए आचार्यदेव सम्यक्त्वमें प्रयत्न करनेका उपदेश इस जीवको बारम्बार करते हैं कि, अनन्त कालसे मिथ्यात्वका अभ्यास होनेसे उसका त्याग करनेमें भारी पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है। जिसप्रकार सर्पको अपने चिरपरिचित बिलमें प्रवेश करने पर रोकनेसे भी वह प्रविष्ट होता है, उसीप्रकार इस जीवको मिथ्यात्वका त्याग करनेके लिए और सम्यक्त्वमें दृढ़ता लानेके लिए बारम्बार मिथ्यात्वके त्यागका उपदेश करना अयोग्य नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—६—

अग्नि, विष और काले सर्प इत्यादि पदार्थोंसे भी जीवकी उतनी हानि नहीं होती जितनी महान् हानि मिथ्यात्वसे होती है, अर्थात् तत्त्वमें अश्रद्धा करनेसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है।

अग्नि, विष और काले सर्प आदि पदार्थोंसे जीवकी हानि एक ही भवमें हो सकती है, परन्तु मिथ्यात्वसे अनेक कोड़ाकोड़ी भवोंमें हानि होती है।

—७—

विषमें बुझा हुआ वाण शरीरमें प्रविष्ट होनेसे, उसका विष सारे शरीरमें फैल जाता है, और मनुष्य प्राणरहित हो जाता है, अर्थात् फिर उस पुरुषका कोई उपचार नहीं हो सकता; उसीप्रकार मिथ्यात्वकी शल्यसे बिंधा हुआ मनुष्य तीव्र वेदनाओंका अनुभव करता है।

—८—

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूँ, तथापि मैंने दुद्धर चारित्रका पालन किया है, इसलिये वह इस दीर्घ संसारसे मेरा रक्षण करेगा ऐसी आशा व्यर्थ है।

दृष्टान्तः—शोभायमान कड़वी तूंबीमें रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, अर्थात् उसका मीठापन नष्ट हो जाता है; परन्तु शोभा रहित शुद्ध तूंबीमें रखा हुआ दूध कड़वा नहीं होता वह मीठा रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—९—

उसीप्रकार मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत रुचिसे विपरीत बने हुए जीवके तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य—यह गुण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य—यह मुक्तिका उपाय:है; परन्तु प्रत्येक तपादिक मुक्तिका उपाय नहीं है। जब सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है, तब तपादिकमें सम्यक्पना आता है; उसके अभावमें तपादिमें सम्यक्पना नहीं आ सकता। जिसने मिथ्यात्वका त्याग किया है—ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवमें तपादि सद्गुण सफल होते हैं; ऐसे तपश्चरणसे इस लोकका सुख और फिर इन्द्रपदकी प्राप्ति होती है तथा मोक्षसुखका लाभ भी मिलता है। पूर्ण शुद्धि होनेसे पूर्व आयु पूर्ण हो तो देव होकर–मनुष्य गतिमें दशांगी सुखमें जन्म लेकर साधुपना अंगीकार करके मोक्षपद प्राप्त करता है, और उसी भवमें पूर्ण शुद्धि करे तो उसी भवमें मोक्ष प्राप्त करता है।

—१०—

भव्य और अभव्य—दोनों जीव अनन्तबार नवमें ग्रैवेयकमें गये—यह शास्त्रका सामान्य कथन है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि जीव क्या करनेसे नवमी ग्रैवेयकमें जा सकता है? उसका उत्तर नीचे दिया जाता है:—

सम्यग्दर्शन रहित शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितिकी सावधानी पूर्वक, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार चारित्रका पालन करे—उसका फल नवमा ग्रैवेयक है, वह मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट शुभभाव है। इसलिये जीवने जो काम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तबार किया और फिर वही कार्य करे तो उसका वही फल आएगा, अर्थात् संसार बना रहेगा; इससे यह विचार करना चाहिये कि जीवने अनंतकालमें क्या नहीं किया है।

तटस्थ विचारकको ज्ञात होगा कि जीवने शुद्धात्माका स्वरूप नहीं समझा अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया इसीसे वह संसारमें भटका है—अर्थात् इसीसे उसका दुःख बना रहा। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करना (पहले कभी न किया होनेसे) अपूर्व है— ऐसा निश्चित् करके उसे प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। इससे ऐसा नहीं समझना कि पुण्य छोड़कर पाप करनेके लिए कहा जा रहा है। शुद्धता प्राप्त न हो तब तक पाप छोड़कर पुण्यमें रहना चाहिये; परन्तु उसे धर्म या उसका कारण नहीं मानना चाहिये।

यह वस्तु ध्यानमें रखनेकी आवश्यक्ता है कि, ज्ञानका विकास सम्यग्दर्शन नहीं है। ज्ञानका विकास भी जीवके अनन्तबार ऐसा हुआ है कि—ग्यारह अंगका ज्ञान प्राप्त किया; परन्तु शुद्ध ज्ञानमय आत्माके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण आत्माने अपने यथार्थ स्वरूपकी श्रद्धा नहीं की। ज्ञानका विकास और स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा—यह दोनों बिल्कुल भिन्न गुण हैं। सम्यक्त्वमें लब्धि—उपयोगका भेद नहीं है लब्धि अर्थात् पदार्थोंको जाननेकी शक्ति और उपयोग अर्थात् पदार्थको जाननेरूप ज्ञानका व्यापार। व्रतादि आचरण न हो तबतक मिथ्यात्व-अज्ञान है ऐसा भी नहीं है कारण कि प्रत्येक गुणका कार्य क्षेत्र भिन्न है-स्वतंत्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण : ४५

क्रिया

क्रियाकी सामान्य व्याख्या।

१:—पर्यायका परिवर्तित होना सो क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रतिसमय बदलती ही रहती है। प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय ही उसकी क्रिया है। प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपनेमें ही होती है, परन्तु एक द्रव्यकी पर्याय दूसरे द्रव्यमें नहीं होती, दूसरेके आधारसे हो ऐसा नहीं है इसलिये एक द्रव्यकी क्रिया दूसरे द्रव्यमें नहीं होती; उसीप्रकार एक द्रव्यकी क्रिया दूसरा द्रव्य नहीं करता।

क्रियाके प्रकार

२:—इस जगतमें जड़ और चेतन—ऐसे दो प्रकारके द्रव्य हैं। द्रव्यकी पर्याय ही क्रिया होनेसे क्रिया भी जड़ और चेतन—ऐसे दो प्रकारकी है। जड़ द्रव्यकी अवस्था वह जड़की क्रिया और चेतन द्रव्यकी (जीवकी) अवस्था वह चेतनकी क्रिया अर्थात् जीवकी क्रिया।

जीवकी क्रियाके दो प्रकार हैं—(१) रागादिभावरूप विकारी क्रिया और (२) रागादिभावरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अविकारी क्रिया। विकारी क्रिया बंधका कारण है, इससे उसे 'बंधकी क्रिया' भी कहा जाता है; और अविकारी क्रिया मोक्षका कारण है, उसे 'मोक्षकी क्रिया' कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार कुल तीन प्रकार की क्रिया हुई—(१) जड़की क्रिया (२) जीवकी विकारी क्रिया और (३) जीवकी अविकारी क्रिया।

जड़की क्रिया

३:—शरीर जड़ है, उसकी प्रत्येक क्रिया जड़की क्रिया है। शरीरका हिलना-डुलना या स्थिर रहना वह जड़की क्रिया है, उसके कर्ता जड़ परमाणु हैं। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जड़की क्रियाके साथ बंध या मोक्षका सम्बन्ध नहीं है। शरीरकी हलन-चलनरूप दशा या स्थिरतारूप दशा उसमें बंधकी या मोक्षकी क्रिया नहीं है, अर्थात् शरीरकी किसी भी क्रियासे आत्माको बंध या मोक्ष, लाभ या अलाभ, सुख या दुःख नहीं होते, क्योंकि शरीरकी क्रिया जड़की क्रिया है। जैसे कपड़ेको ज्ञान-सुख दुःख नहीं है उसीप्रकार शरीर को भी नहीं है।

पहले शरीरकी अवस्था घरमें रहनेरूप हो और हलन-चलनादिरूप हो, पश्चात् अवस्था बदलकर धर्मस्थानमें स्थिर रहने रूप हो—वहाँ उसके परिवर्तनसे अज्ञानी जीव धर्म मानते हैं। परन्तु जड़की क्रिया बदली उससे आत्माको धर्म नहीं है, पुण्य नहीं है और पाप भी नहीं है। शरीरकी भाँति पैसा, वस्त्र या आहारादि का संयोग-वियोग होना, वह भी जड़की क्रिया है; उससे धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता। उस किसी भी क्रियाका कर्ता आत्मा नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विकारी क्रिया

४:—जीवकी पर्यायमें जो राग–द्वेष-मोह अज्ञानरूप भाव हों वह जीवकी विकारी क्रिया है; इस क्रियाको बंधकी क्रिया कहा जाता है। शरीरादि जड़की क्रियासे विकारी क्रिया नहीं होती और जीवकी विकारी क्रियासे शरीरादि जड़की क्रिया नहीं होती। राग–द्वेष–अज्ञानरूप भाव आत्माकी पर्यायमें होते हैं इससे आत्मा की ही पर्यायमें वह विकारी क्रिया करनेकी योग्यता है। शरीरकी क्रियासे पुण्य–पाप नहीं होते। पुण्य–पापरूप क्रिया बंधनकी क्रिया है, उस क्रियाके द्वारा संसार मिलता है, मोक्ष टलता है और आत्मा के गुणोंकी पर्याय जलती है। अतः इस क्रियासे कभी धर्म नहीं होता। ये है तो दूसरे गुणोंकी क्रिया हो ऐसा नहीं है राग है तो ज्ञान या शरीरकी क्रिया है ऐसा नहीं है, ज्ञान है तो राग है, देहकी क्रिया है ऐसा नहीं।

प्रत्येक क्रियाकी स्वतंत्रता

५:—प्रश्न—पहले जड़की क्रिया करे, पश्चात् धर्म होता है या नहीं ? जैसे कि—पहले शरीरको धर्मस्थान तक ले आये, फिर धर्मश्रवण करे और फिर यथार्थ प्रतीतिसे धर्म होता है। इसप्रकार जड़की क्रिया करना आया या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, जड़की क्रियाके द्वारा धर्म नहीं होता। जड़की क्रिया आत्मा करता ही नहीं, इससे जड़की क्रियाके साथ आत्माका सम्बंध ही नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्तमें शरीरकी क्रिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बदली उससे धर्म नहीं हुआ है। 'तत्त्व समझनेके लिये जाना है'— ऐसा शुभभाव हुआ और धर्मस्थान पर गया, वहाँ निम्नानुसार क्रियाएँ हुईं। (१) शुभभाव हुआ वह पुण्य है, वह विकारी क्रिया है। (२) शरीरका क्षेत्रान्तर हुआ वह जड़की क्रिया है। (३) आत्माके प्रदेशोंका क्षेत्रान्तर हुआ वह आत्माकी विकारी क्रिया है। (४) सत् श्रवणकी ओरका लक्ष्य वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है। यह चार क्रियाएँ हुईं वहाँ तक तो अभी धर्म नहीं हुआ है। धर्म श्रवणके लक्ष्यसे भी हटकर स्वकी ओर लक्ष्य करे और अपने शुद्ध आत्म स्वभावकी महिमा लाकर निर्णय करे तो वह अविकारी क्रिया है, वही धर्म है। जड़की क्रिया, आत्म-प्रदेशोंकी क्षेत्रान्तररूप क्रिया और शुभरागरूप विकारी क्रिया— इन सभीसे यह धर्मकी क्रिया भिन्न है।

इसीप्रकार किसी जीवको यश या धन कमाने आदिकी अशुभभावना हुई और शरीरकी क्रिया भी हुई, तो वहाँ भी जो शरीरकी क्रिया हैं वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है, उससे जीवको लाभ या हानि नहीं है। और जो अशुभभाव हुए वह जीवकी विकारी क्रिया है, उससे जीवको हानि है। अशुभभावके कारण भी शरीरकी क्रिया नहीं होती।

अशुभ परिणामोंसे पाप, और शुभ परिणामोंसे पुण्य—इन दोनोंका समावेश विकारी क्रियामें होता है और दोनोंके समय शरीरकी जो क्रिया है वह स्वतंत्र जड़की क्रिया है। मेरे परिणाम के कारण जड़की क्रिया हुई—ऐसा माने तो मिथ्या है, और पुण्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणामके कारण धर्मकी क्रिया हुई—ऐसा माने तो भी मिथ्या है।

धर्मस्थानमें शरीर दो घड़ी स्थिर रहकर बैठा वह जड़की क्रिया है, उस समय यदि अंतरंगमें शुभपरिणाम हों तो पुण्य है, किन्तु उस समय यदि घर—व्यापारादि सम्बन्धी अशुभ विचार करता हो तो वह पाप है; पुण्य-पाप दोनों अशुद्धभाव हैं, विकार हैं, दोष है उससे धर्म नहीं है—ऐसा भाव भासन सहित आत्मभान वर्तता हो तो उसी समय जितने अंशमें जीव स्वसन्मुख रहे उतने अंशमें अविकारी धर्मक्रिया है, वह क्रिया मोक्षकी उत्पादक है। पुण्य-पाप दोनों बंधनकी क्रिया है, वह क्रिया संसारकी उत्पादक है। किसी जीवने अशुभपरिणाम तो छोड़ दिए और जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं सत् शास्त्रके लक्ष्यसे शुभराग किया तथा उसमें धर्म माना, तो वह जीव एकान्त बंधनकी ही क्रिया कर रहा है, उसके अधर्म क्रिया ही वर्त रही है—फिर चाहे वह चल रहा हो या स्थिर हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, भोजन लेता हो या उपवासी हो।

अविकारी क्रिया

६:—अविकारी क्रियाका अर्थ है—धर्मकी क्रिया अथवा मुक्तिकी क्रिया। लोग कहते हैं कि क्रियासे धर्म होता है; परन्तु किसकी क्रिया और कौनसी क्रिया ? जड़की क्रिया या चेतन की ? विकारी क्रिया या अविकारी ? जड़की क्रिया, विकारी क्रिया और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविकारी क्रियाके स्वरूपका जिसे भान नहीं है वह धर्मकी क्रिया कहांसे करेगा ?

मुक्तिकी क्रियामें परके साथ तो संबंध नहीं है और परोन्मुखतासे जो भाव होते हैं उनके साथ भी संबंध नहीं है। मुक्तिकी क्रियामें परके ऊपर या विकारके ऊपर दृष्टि नहीं होती, परन्तु परसे और विकारसे भिन्न अपने असंयोगी, अविकारी त्रिकाल अभेद एकरूप ज्ञायक स्वभाव पर ही दृष्टि होती है। विकारी क्रिया भी आत्माकी भूलरूप वर्तमान दशा है और उसी समय साधकको आंशिक स्वाश्रयरूप अविकारी क्रिया भी है जो आत्माकी वर्तमानदशा है। आत्माकी जो वर्तमानदशामें स्वभावके साथके एकत्वसे च्युत होकर परलक्ष्यमें और पुण्य-पापमें रुकती है वही विकारी क्रिया है, वह संसार है, मोक्षकी घातक है, सुखकी हर्ता हैं और दुःखकी दातार है। और आत्माकी जो दशा जितने अंशमें पराश्रयसे छूटकर—दूर रहकर अर्थात् स्वलक्ष्यसे अपने त्रिकाली स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतामें स्थित है वही अविकारी क्रिया है, वह धर्म है, मोक्षकी उत्पादक और संसारकी घातक है; सुखकी दातार और दुःखोंकी हर्ता है। एक साथमें एक ही पर्यायमें मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान और सम्यक श्रद्धा-ज्ञान हो ऐसा नहीं हो सकता किन्तु नीचे साधकदशामें एक समयमें स्वाश्रयी ज्ञानभाव और आंशिक पराश्रयरूप विकारी भाव हो सकते हैं।

७:—विकारी क्रिया या अविकारी क्रिया—यह दोनों एक-समय पर्यंन्तकी जीवकी अवस्था है, परन्तु उन दोनोंके आश्रय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और लक्ष्यमें अंतर है। अविकारी क्रियाका आश्रय और लक्ष्य त्रिकाली शुद्ध स्व-स्वभाव है और विकारी क्रियाका लक्ष्य परद्रव्य तथा पुण्य-पाप है। जड़के कर्तृत्वकी बात तो दोमेंसे एक भी क्रियामें नहीं है। जड़की क्रिया तो इन दोनोंसे भिन्न स्वतंत्र है, उससे न बन्धन है और न मुक्ति ही।

८:—मोक्ष किसके आश्रयसे होता है? अथवा तीन प्रकार की क्रियामेंसे किस क्रियासे मोक्ष होता है? क्या जड़के मोक्ष होता है? या पुण्य पापका आश्रय करनेसे मोक्ष होता है? पर द्रव्यका ग्रहण-त्याग तो आत्मामें है ही नहीं इसलिये उसके आलंबनसे मोक्ष नहीं हो सकता। जो पुण्य-पाप होते हैं वे भी परलक्ष्यसे होने के कारण विकार है, उसके लक्ष्यसे भी मोक्ष नहीं होता। अर्थात् जड़की क्रिया और विकारी क्रियासे मोक्ष नहीं होता। देहादिक जड़की क्रियाका बाह्य संयोग होने पर भी, 'मैं इस जड़से भिन्न हूँ'। न मैं उनका कर्ता हूँ-न कराने वाला-प्रेरक हूँ, और मेरे शुद्ध ज्ञान भावमें यह राग-द्वेष नहीं है कारण कि ये जीवके लक्षण नहीं हैं— ऐसा भेद ज्ञान प्रवर्तमान हो वह प्रारम्भिक धर्मकी क्रिया है; और पश्चात् शुद्ध ज्ञाताभावमें स्थिरता करनेसे राग द्वेष दूर होते जाते हैं। इसप्रकार धर्मकी क्रियाके बलसे विकारकी क्रियाका नाश होता है।

९:—(१) पेटमें भोजन गया अथवा न गया वह जड़की क्रिया है; उसमें न पुण्य है न पाप है और न धर्म। (२) पेटमें भोजन नहीं पहुँचा उस समय जीवको जो अरुचिकर प्रतीत होता है कि—'उपवास तो किया, परन्तु आज तो कल जैसी प्रसन्नता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है कष्ट हो रहा'—तो उसे अशुभ परिणाम है और उस परिणामसे पापबंध होता है। (३) उस समय यदि मंदकषाय रखे तो शुभ परिणाम है और उस शुभ परिणामसे पुण्यबंध है। (४) उस समय आहारका, शरीरका और पुण्य-पापका लक्ष्य छोड़कर अपने त्रिकाली आत्मस्वभावकी पहिचान पूर्वक उसमें जितना अंशमें स्थिर हुआ—अनुभवमें एकाग्र हुआ वह धर्म है। इन चार प्रकारोंमें नं० (१) जड़की क्रिया है, नं० (२) तथा (३) वह विकारी क्रिया है और नं० (४) धर्मकी क्रिया अथवा अविकारी क्रिया है।

१०:—शरीर स्थिर रहे वह जड़की क्रिया है, उस जड़की क्रिया परसे आत्माका माप निकाले वह अज्ञानी है। जड़ शरीरकी क्रिया स्थिर रहनेरूप हुई परन्तु उस समय आत्माकी क्रिया किस प्रकारकी हो रही है—उसके भान बिना धर्मका माप (नाप) कहाँसे निकालेगा ? धर्मकी क्रिया शरीरमें होती है या आत्मामें ? जिसकी भूमिकामें धर्मकी क्रिया होती है—ऐसे आत्मस्वभावका जिसे भान नहीं है वह धर्मकी क्रिया कहाँसे करेगा ? इसलिये सर्वप्रथम भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूपकी प्रतीति करना ही प्रारम्भिक धर्मकी क्रिया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई धर्मकी क्रिया नहीं है।

क्रियाकी स्थापना कौन करता है ?
ज्ञानी करता है।

११:—शरीरकी क्रिया वह पुद्गल परमाणुओंकी अवस्था है, और परमाणु स्वतंत्रतया परिणमित होते हैं अर्थात् शरीरकी उस अवस्थारूप होते हैं। आत्मा उनका कर्ता वास्तवमें नहीं है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार ज्ञानी ही शरीरकी क्रियाकी उसी रूपमें यथावत् स्थापना करते हैं।

१२:—पुण्य क्रिया है वह जीवका विकार भाव है, उस क्रियासे आत्माका अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता और वह क्रिया धर्ममें सहायक नहीं होती—इसप्रकार ज्ञानी ही पुण्य क्रियाकी पुण्य क्रियाके रूपमें स्थापना करते हैं।

१३:—आत्माकी अविकारी क्रिया है वह धर्म है, वह क्रिया आत्माके ही अवलम्बनसे प्रगट होती है उसमें किसी अन्य जीव–आदिका अवलम्बन नहीं है और पुण्य क्रियासे वह अविकारी क्रिया प्रगट नहीं होती—इसप्रकार ज्ञानी अविकारी क्रियाकी स्थापना यथावत् धर्मकी क्रियाके रूपमें करते हैं।

क्रियाको कौन उखाड़ता है ?

अज्ञानी उखाड़ता है।

१४:—शरीरकी क्रिया आत्मासे होती है, परन्तु अपने आप स्वतंत्र नहीं होती—ऐसा मानकर अज्ञानी ही शरीरकी स्वतंत्र क्रियाको उखाड़ते हैं, क्योंकि वे पुद्गल परमाणुओंकी स्वतंत्र क्रिया-को स्थापित नहीं करते।

१५:—पुण्यक्रिया अर्थात् शुभरागरूप विकारी क्रियासे धर्म होता है अथवा तो उसे करते–करते धर्म होता है—ऐसा मानकर अज्ञानी ही पुण्यकी क्रियाको उखाड़ते हैं; क्योंकि पुण्य विकारी क्रिया है, तथापि वे विकारी क्रियाकी विकारी क्रियाके रूपमें स्थापना नहीं करते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६:—आत्माकी अविकारी क्रिया पुण्य करते-करते होती है अथवा प्रारम्भमें कुछ परावलम्बन चाहिये निमित्त चाहिये-ऐसा मानकर अज्ञानी ही अविकारी क्रियाको उखाड़ते हैं; क्योंकि पुण्यकी अपेक्षासे रहित निरावलम्बी अविकारी क्रिया है उसकी वे स्थापना नहीं करते।

प्रकरण : ४६

तत्त्व-चर्चा

१:—सुरेशचन्द्रः—एक जीव धर्मी है, उसे कोई निर्माल्य कहे, तथापि उसे शंका नहीं होती वह क्योंकर ?

दिनेशचन्द्रः—क्योंकि उस धर्मात्मा जीवके ऐसा अन्तर भाव भासनरूप भेदज्ञान प्रवर्तमान है कि मैं ज्ञानरूप आत्मा हूँ और सदैव ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण हूँ। इसप्रकार अपने स्वभावका मूल्य होनेसे उसे शंका नहीं होती।

सुरेशः—आपको शांत बैठा देखकर कोई कहे कि तुम बेकार-आलसी हो तो आपको दुःख होगा या नहीं?—किसलिये?

दिनेशः—दुःख नहीं होगा। क्योंकि मुझमें वस्तुत्व गुण है, इससे मैं प्रतिसमय प्रयोजनभूत कार्य कर ही रहा हूँ। मेरे ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त गुणोंकी दृढ़ताका कार्य मेरी द्रव्यत्वशक्तिसे प्रतिसमय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणमित हो रहा है, इसलिए मैं आलसी नहीं हूँ। लोग बाहरसे माप करते हैं वह ठीक नहीं है। स्वरूपमें असावधान—अनुत्साह ही आलस्य है और स्वरूपमें सावधानता—उत्साह ही सुखी होनेका सच्चा उपाय है।

२:—सुरेश:—कोई कहे कि—आत्मामें पैसादि कुछ नहीं है इसलिए वह बिल्कुल निर्धन है, तो आप उसे मानेंगे या नहीं ?

दिनेश:—आत्मामें पैसादि कुछ नहीं हैं, यह ठीक है; परन्तु आत्मा निर्धन नहीं है, क्योंकि उसमें श्रद्धा, ज्ञान, सुख, आनन्द, वीर्यादि अनन्त गुण हैं; अनन्त गुणवाले आत्माको निर्धन कैसे कहा जा सकता है ?

३:—सुरेश:—आत्माके गुणोंको बढ़ाना हो तो बढ़ा सकते हैं या नहीं ?

दिनेश:—गुण नहीं बढ़ाये जा सकते, क्योंकि गुण तो त्रिकाल शक्तिरूप अवस्थित हैं वह नये नहीं हो सकते। परन्तु गुणोंकी क्रियारूप पर्यायें नयी नयी होती हैं उसकी निर्मलता बढ़ाई जा सकती है आत्मा अर्थात् जीवमें भी अगुरुलघुत्व गुण होनेसे वस्तुमें जितने गुण होते हैं उतने ही त्रिकाल रहते हैं उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती।

सुरेश:—यदि गुण बढ़ न सकें तो फिर जिसमें कम गुण होंगे उसके गुण पूरे किसप्रकार होंगे ?

दिनेश:—किसीमें कम गुण होते ही नहीं। सभी आत्माओंमें गुण तो सदा पूरेके पूरे ही रहते हैं। गुण कम नहीं हो गये हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु गुणोंकी पर्याय अपूर्ण होती है। 'इस जीवके कम गुण हैं,—ऐसा कहा जाता है परन्तु वास्तवमें वहाँ गुण कम नहीं हैं किन्तु गुणोंकी पर्याय अपूर्ण हुई है—ऐसा समझना चाहिए। गुण तो पूरे ही हैं, उन्हें पर्यायमें पूर्ण निर्मल होकर जीव नहीं देखता इसलिए पर्याय अपूर्ण है। यदि अपने परिपूर्ण गुणोंको पहिचान कर जीव उनमें स्थिर हो तो पर्याय भी पूर्णता प्रगट हो। इससे प्रथम आत्माके द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप जानना चाहिए।

४:—सुरेश:—आप आत्मा हैं; आप घरसे यहाँ तक आये, तब शरीरको आपके साथ बलात् आना पड़ा या नहीं ?

दिनेश:—नहीं, शरीर बलात् नहीं आया है। आत्मा और शरीर दोनों पृथक् पदार्थ हैं इससे एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकते। आत्मा अपने कारण आया है और शरीर उसके अपने कारणसे आया है। शरीरके जड़ परमाणुओंमें द्रव्यत्व नामकी शक्ति है, इससे वे परिणमित होकर यहाँ आये हैं परन्तु आत्माके कारण शरीर नहीं आया है और न शरीरके कारण आत्मा आया है। दोनों पदार्थ स्वतंत्र हैं।

५:—सुरेश:—जीव और पुद्गलमें क्या अन्तर है ?

दिनेश:—जीवमें ज्ञान है, पुद्गलमें ज्ञान नहीं है। पुद्गल रूपी है और जीव अरूपी है।

सुरेश:—पुद्गलमें ज्ञान गुण क्यों नहीं हो सकता ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिनेशः—पुद्गल जड़-रूपी है इससे उसमें ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो अरूपी है और पुद्गल रूपी है; रूपी वस्तुके समस्त गुण रूपी ही होते हैं परन्तु अरूपी नहीं होते।

सुरेशः—पुद्गल रूपी है और ज्ञान अरूपी है—यह कैसे जाना ?

दिनेशः—जो रूपी वस्तु हो वह इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकती है; पुद्गल रूपी है इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। जो आँखसे दिखाई दे, नाकसे सूंघा जाये, कानसे सुनाई दे, जीभसे चखा जाये और चमड़ेसे स्पर्शित हो वह सब रूपी-पुद्गल है; और ज्ञान तो अरूपी होनेके कारण वह आँखसे दिखाई नहीं देता; कानसे सुनाई नहीं देता, हाथ आदि स्पर्शमें नहीं आता, जीभसे उसका स्वाद नहीं ले सकते और नाकसे सूंघा नहीं जाता। किसी भी अचेतन पदार्थमें ज्ञान नहीं हो सकता।

६:—सुरेशः—जो हम रेडियोमें सुनते हैं वे शब्द आकाश में से आते हैं या नहीं ?

दिनेशः—नहीं; शब्द आकाशमेंसे नहीं आते। शब्द तो जड़ परमाणुओंकी अवस्था है, वह आकाशका गुण नहीं है। बहुतसे परमाणु एकत्रित होकर शब्दरूप परिणमित होते हैं उन्हें हम सुनते हैं। परमाणुओंमें ही शब्दरूप होनेकी शक्ति है। आकाशद्रव्य तो पृथक् है।

सुरेशः—परमाणुमें स्पर्शगुण है-ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिनेशः—क्योंकि पानी आदि पदार्थ ठंडेसे गरम होते हैं; ठंडा और गरम—दोनों स्पर्शगुणकी ही पर्यायें हैं।

७:—सुरेशः—पानीको ठंडेसे गरम तो अग्निने किया है न ?

दिनेशः—नहीं; अग्नि और पानी दोनों पदार्थ पृथक् हैं, इससे अग्नि पानीको गरम नहीं करती, पानी में अनन्त परमाणु द्रव्य हैं और उस प्रत्येक परमाणुमें स्पर्श गुण है, वह गुण पहले ठंडी पर्यायरूप था और फिर वही गुण अपनी शक्तिसे उष्ण पर्यायकी उत्पत्ति द्वारा गरम दशारूप हुआ, उसमें अग्नि आदि किसीने कुछ नहीं किया है। पानीके परमाणु अपनी योग्यतासे अपने कारणसे स्वतः गरम हुए हैं।

सुरेशः—यदि पानी अपनी योग्यतासे ही गरम होता हो तो अग्निके आनेसे पूर्व वह क्यों गरम नहीं होता ?

दिनेशः—प्रत्येक द्रव्यमें 'द्रव्यत्व' नामकी शक्ति है, उस शक्तिके कारण द्रव्य सदैव एक समान नहीं रहते, और उनकी अवस्था प्रति समय बदलती रहती है। परमाणुओंमें भी द्रव्यत्वगुण होनेके कारण उनकी दशा बदलती रहती है। इससे वे कभी ठंडे और किसी समय गरम आदि होते हैं। जो परमाणु ठंडेसे गरम हुए हैं उन्हें अग्निने गरम नहीं किया है; परन्तु अपनी द्रव्यत्व शक्तिके कारण ही हुए हैं।

८:—सुरेशः—अग्निने पानीको गरम किया है—ऐसा मानें तो क्या अड़चन आयेगी ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिनेशः—यदि ऐसा मानें तो—अग्निके परमाणुओंमेंसे कुछ निकलकर पानीके परमाणुओंमें प्रविष्ट हो जाता है—ऐसा होना चाहिए। अग्निमेंसे गरमी निकलकर पानीमें प्रविष्ट हो गई हो—ऐसा नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें 'अगुरुलघुत्व' नामकी शक्ति है, इससे एक द्रव्यके गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यमें प्रविष्ट नहीं हो सकते। प्रत्येक द्रव्यके गुण पर्याय स्वतः अपनेमें ही रहते हैं। वस्तुकी पर्याय बाहरसे नहीं आती किन्तु अपने गुणमेंसे ही आती है; इससे पानीकी गरम दशा उसके स्पर्श गुणमेंसे ही आई है परन्तु अग्निके परमाणुओंमेंसे नहीं आई है।

और प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त स्वरूप है, अर्थात् स्वस्वरूपसे है और परस्वरूपसे नहीं है। पानी अग्निके रूपसे नहीं है। ऐसा होनेसे वे एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकते। यदि ऐसा मानें कि अग्निने पानीको गरम किया तो उपरोक्त सभी सिद्धान्त टूट जायें अर्थात् द्रव्यके अगुरुलघुत्व गुणका नाश हो जाये; सभी गुणों का नाश हो और द्रव्य एक दूसरेमें मिलकर द्रव्यका भी नाश हो। इसलिए कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता।

९:—सुरेशः—वस्तुमें 'नास्तित्व' गुण है—ऐसा समझनेसे क्या लाभ है?

दिनेशः—वस्तुके स्वभावमें जो गुण हों उन्हें जाननेसे वस्तुका स्वरूप समझमें आता है और उससे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान होता है। नास्तित्व गुण अर्थात् आत्मा पररूप नहीं है और परद्रव्य आत्मारूप नहीं है। ऐसा समझ लेनेसे यदि शरीरमें रोग आये तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानता है कि उस रोगकी मुझमें नास्ति है, मेरा ज्ञान रोगसे पृथक् है। मेरा कोई गुण शरीररूप नहीं है इससे शरीरमें रोग आनेसे मुझे हानि नहीं होती और शरीर निरोग रहे तो उससे मुझे लाभ नहीं होता। शरीरकी मुझमें नास्ति होनेसे मैं शरीरका कुछ भी नहीं कर सकता। इसप्रकार, नास्तित्व गुणकी प्रतीति होनेसे निरंतर स्व-परके भिन्नत्वका ध्यान रहता है और इससे शांति रहती है। शरीर, पैसादि चले जानेसे आत्मामेंसे कुछ नहीं चला जाता; क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मामें शरीर पैसादि की नास्ति है।

१०:—सुरेश:—सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, पुण्यके फलका संयोग आदि किसी भी पदार्थसे आपको लाभ होता है या नहीं?

दिनेश:—मुझे अपनी यथार्थ प्रतीतिसे लाभ होता है, परंतु देव-गुरु-शास्त्र या पुण्य आदि किसीसे मुझे लाभ नहीं होता क्योंकि उन समस्त पदार्थोंका मेरे आत्मामें अभाव है, मुझमें वे कोई नहीं हैं, जो पदार्थ मुझमें नहीं हैं वे मेरे आत्माको कुछ भी लाभ या हानि नहीं पहुँचा सकते।

सुरेश:—परसे कुछ भी लाभ-हानि नहीं होते—ऐसा समझनेसे क्या लाभ है?

दिनेश:—वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, इसलिए वैसा समझनेसे ही स्वसन्मुख हो सकते हैं तब सम्यग्ज्ञान होता है। पर द्रव्योंसे मुझे कुछ भी लाभ-हानि नहीं होते—ऐसा समझे तब पर द्रव्योंके प्रति मोह बुद्धि या अहंकार नहीं होता, स्वमें एकत्वरूप दृढ़ता द्वारा ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा बलवान होती है तब रागद्वेष भी कम होता है एवं शांति-सुख होता है। परद्रव्यके आश्रयरूप पराधीनता जीव मान बैठा है वह मान्यता सच्चा समझनेसे दूर हो जाती है। अपने दोषसे ही अपनेको हानि होती है—ऐसा समझे तो अपना दोष दूर करके वह हानि दूर करे और प्रगट शुद्धिरूप गुणका लाभ हो।

११:—सुरेशः—यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ न करता हो तो इस जड़ देहकी व्यवस्था कौन करता है ?

दिनेशः—जड़ देहमें अनंत रजकण-परमाणु हैं, वे प्रत्येक स्वतंत्र द्रव्य हैं। उस प्रत्येक परमाणु द्रव्यमें द्रव्यत्व, वस्तुत्व आदि गुण हैं और उनमें क्रियावती शक्ति है इससे वे चलते हैं, हिलते हैं, शब्दरूप होते हैं, स्थिर होते हैं, गरम होते हैं, ठंडे होते हैं। इत्यादि शरीरकी समस्त अवस्थाओंकी व्यवस्था उन परमाणुओंके द्रव्यत्व आदि गुण ही करते हैं, परन्तु जीव उनकी व्यवस्था नहीं करता। जीव तो उनका उपचरित सद्भूत व्यवहारनयसे ज्ञाता है। अपनेको जो ज्ञान और राग होता है वह जीव स्वतः करता है, परन्तु जड़-शरीर ज्ञान या राग नहीं कराता, और जड़ शरीरके परमाणुओंमें जो हलन-चलनादि होते हैं वे परमाणुओंके गुण ही करते हैं, परन्तु जीव उन्हें नहीं करता। इसप्रकार स्वतंत्र वस्तुस्वरूप है। भूमिका जितना रागी जीवको राग आता है किन्तु हेय बुद्धि होने से धर्मीजीव किसी भी प्रकार रागादिको करने योग्य नहीं मानता तब अज्ञानी मिथ्या श्रद्धा करते हैं।

१२:—सुरेशः—एक मनुष्य मर गया, और दूसरा मनुष्य उसे स्नेहसे खिलाना-पिलाना तथा उसके साथ बातचीत करना चाहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है; परन्तु वह मरा हुआ मनुष्य खाता-पीता नहीं है और बोलता नहीं है; इससे वह दूसरा मनुष्य मनमें दुःखी हो रहा है तो उसका दुःख दूर करनेका क्या उपाय है ?

दिनेशः—स्थूलरूपसे देखें तो उस जीवका दुःख दूर करनेके लिये दो उपाय ज्ञात होते हैं (१) या तो उस जीवकी इच्छानुसार सामनेवाला मुर्दा खाये-पिये और बातचीत करे तो दुःख दूर हो, और (२) या फिर उसे खिलाने-पिलाने आदि संबंधी इस जीवकी इच्छा दूर हो जाये तो उसका दुःख दूर हो।

अब, विशेष विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि—पहला उपाय तो बिल्कुल अशक्य है, अर्थात् वास्तवमें वह उपाय ही नहीं है, क्योंकि मुर्दा कभी खाने-पीनेवाला नहीं है, इससे जब-तक उस मुर्देको मुर्देरूपसे न जाना तबतक उसका दुःख कभी भी मिटनेवाला नहीं है। दूसरा उपाय स्वाधीन होनेसे वह उपाय जीव कर सकता हैं। परन्तु जबतक उस जीवको ऐसा विश्वास न आये कि—यह मुर्दा है और यह कदापि खायेगा-पियेगा नहीं, तबतक उसे खिलाने-पिलाने आदिकी इस जीवकी इच्छा दूर होगी ही नहीं; इससे मुर्देका मुर्देरूपसे सच्चा ज्ञान करना ही इच्छा दूर होकर शांति होनेका एकमात्र उपाय है। मुर्देको मुर्देरूपसे जाननेसे उसे वस्तु-स्थितिका सच्चा ज्ञान होता है और वैसा होनेसे मुर्देको खिलाने आदिकी उसकी इच्छा दूर हो जाती है, और इससे उसे उतनी शांति होती है। इसप्रकार सच्चा ज्ञान ही सुखका कारण है और अज्ञान ही दुःखका कारण है। यहाँ मात्र मुर्दे सम्बन्धी बात है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे 'सच्चा ज्ञान' कहनेसे मात्र मुर्दे सम्बन्धी सच्चा ज्ञान समझना परन्तु 'सम्यग्ज्ञान'की बात नहीं समझना, और 'सुख' कहनेसे मुर्दे सम्बन्धी इच्छाके अभावसे जो शांति हुई है उस अपेक्षासे सुख समझना; किन्तु सर्वथा निराकुलताजन्य सुख यहाँ नहीं समझ लेना। अब, सम्यग्ज्ञान और निराकुल सुख सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया जाता है।

१३:—सुरेश:—मैंने जो उपरोक्त प्रश्न पूछा था वह दृष्टान्तके रूपमें पूछा था; अब सिद्धान्त समझनेके लिये पूछता हूँ कि—यह जीव 'शरीरादि परद्रव्य अच्छे रहें तो मुझे सुख हो'—ऐसा माननेसे शरीरादि परद्रव्योंको अपनी इच्छानुसार बदलनेका भाव करता है; परन्तु परद्रव्य इस जीवकी इच्छानुसार परिणमित नहीं होते, इससे यह जीव निरन्तर आकुलताका वेदन करके दुःखी ही हो रहा है, उस दुःखको मिटानेका क्या उपाय है?

दिनेश:—स्थूलरूपसे देखें तो उस जीवको दुःख दूर करनेके लिए दो उपाय ज्ञात होते हैं—(१) या तो उस जीवकी इच्छानुसार ही शरीरादि सर्व परद्रव्य परिणमित हों तो उसका दुःख दूर हो; और (२) या फिर परद्रव्योंको बदलने सम्बन्धी भाव यह जीव स्वतः बदल डाले तो उसका दुःख दूर हो।

अब, विशेष विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि—पहला उपाय तो बिल्कुल अशक्य है, अर्थात् वास्तवमें वह उपाय ही नहीं है, क्योंकि परद्रव्य जीवसे पृथक् हैं इससे वे कभी भी जीवकी इच्छानुसार परिवर्तित होनेवाले नहीं हैं। परद्रव्य इस जीवकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षासे मुर्दा है; जिसप्रकार मुर्दा खाता पीता नहीं है उसीप्रकार परद्रव्य भी इस जीवके साथ कुछ भी संबंध नहीं रखते।

जबतक परद्रव्योंको अपनेसे भिन्न रूप नहीं जानेगा तबतक उसका दुःख कभी भी मिटनेवाला नहीं है। पहला उपाय यद्यपि अशक्य ही है, तथापि अज्ञानी जीव वह उपाय करके दुःखको मिटाना चाहता है, परन्तु पर-पदार्थ उसकी इच्छानुसार परिणमित न होनेसे उसके विपरीत भावोंका दुःख उसे सदैव बना ही रहता है।

१४:—दूसरा उपाय जो कि सत्य है वह अज्ञानीकी समझ में ही नहीं आता वह उपाय तो ज्ञानी ही समझते हैं। यह उपाय स्वाधीन है और यही जीवसे हो सकता है। समस्त परद्रव्य मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, मुझमें उनका अभाव है—ऐसा विश्वास जबतक जीवको न आये तबतक परद्रव्यको बदलनेकी उसकी इच्छा दूर होगी ही नहीं। परन्तु यदि परद्रव्योंको अपनेसे भिन्नरूप जाने और ऐसा विश्वास करे कि मैं उनका कुछ भी नहीं कर सकता, तो वह परद्रव्योंको बदलनेकी इच्छा न करे, तथा जिसप्रकार परद्रव्य स्वतंत्ररूपसे परिणमित हो उसे उसप्रकारसे जानता रहे और उसके चाहे जैसे परिणमनमें भी अपने अन्तरसे आकुलित न हो, क्योंकि उसे प्रतीति है कि उन द्रव्योंके परिणमनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये स्व और परका भिन्नरूपसे सच्चा ज्ञान करना तथा वे एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकते—ऐसी प्रतीति करना, वही इच्छाको दूर करके शांति प्रगट करनेका एकमात्र उपाय है। स्व-पर द्रव्योंको भिन्न जाननेसे वस्तुस्थितिका सच्चा ज्ञान होता है; और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैसा होनेसे 'मैं परद्रव्यकी क्रिया कर सकता हूँ' —ऐसी विपरीत मान्यता दूर हो जाती है, इससे अनन्त परद्रव्योंका अहंकार और उनके कर्तृत्वकी अनंती इच्छा दूर हो जाती है, तथा उतने ही अंशमें स्वभावकी शांति और सुख प्रगट होता है; इसप्रकार सच्चा ज्ञान ही सुखका कारण है और अज्ञान ही दुःखका कारण है। सर्वत्र सर्व प्रसंगोंमें सच्चा ज्ञान ही एकमात्र सुखका उपाय है; इसलिये सच्चा ज्ञान करो।

१५:—जीवका स्वभाव ही ज्ञान करना है. परद्रव्योंको भी जाने अवश्य, परन्तु परद्रव्योंको जाननेसे ज्ञानके साथ परके कर्तृत्वका अहंकार करता है वह अहंकार ही दुःखका कारण है। जब परद्रव्योंको भिन्नरूप समझे तब ज्ञानके साथ परद्रव्योंका अहंकार नहीं करेगा; इससे अकेला ज्ञान ही रहा; वह ज्ञान ही सुखका कारण है।

स्वद्रव्यका सच्चा स्वरूप यथार्थतया जाने बिना परद्रव्यों का अहंकार दूर नहीं हो सकता; इसलिये ज्ञानके द्वारा अपने शुद्धात्मस्वरूपको पहिचानना चाहिये।

समाप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
७	६	तपनुं	सुशोभित
६०	१८	कर्मोंके	कर्मोंमें पापका
८१	४	तत्व	तत्त्व
८४	१३	व्यवहार माग	व्यवहारमार्ग
९०	७	मानो मिथ्या	मानो तो मिथ्या
९३	६	के	को
९४	१५	तत्व	तत्त्व
१०१	८	जाव	जीव
१०२	५	करने	कराने
१०५	६	ढुँढाने	ढुंढने
१०५	७	आर	और
१०५	८	हा	ही
१०८	९	प रणाम	परिणाम
१०८	११	प रणाम	परिणाम
१०८	१६	(दृढ़ प्रतिज्ञारूपी	(दृढ़प्रतिज्ञारूपी)
१०८	२१	प रणाम	परिणाम
११३	२०	नह)	नहीं)
११६	१६	समजाय	समजाया
१२१	९	ह	ही
१२४	१४	कहोगे	कहेंगे
१३४	१३	अनुमोदनकी	अनुमोदन के
१३६	२२	या है	लिया है
१८४	९	सुकुमारने	सुकुमारको
१८४	९	ससुरके	ससुरने
२३०	७	रहित	सहित
२३७	१३	द्रव्यत्व	क्रियावती तथा द्रव्यत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi